हमारी वसीयत और विरासत

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

विषय-सूची

इस जीवन यात्रा के गंभीरता पूर्वक पर्यवेक्षण की आवश्यकता

जिन्हें भले या बुरे क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्ति समझा जाता है, उनकी जीवनचर्या के साथ जुड़े हुए घटनाक्रमों को भी जानने की इच्छा होती है। कौतूहल के अतिरिक्त इसमें एक भाव ऐसा भी होता है, जिसके सहारे कोई अपने काम आने वाली बात मिल सके। जो हो कथा–साहित्य से जीवनचर्याओं का सघन संबंध है। वे रोचक भी लगती हैं और अनुभव प्रदान करने की दृष्टि से उपयोगी भी होती हैं।

हमारे संबंध में प्रायः आए दिन लोग ऐसी पूछताछ करते रहते हैं, पर उसे आमतौर से टालते ही रहा गया है। जो प्रत्यक्ष क्रियाकलाप हैं, वे सबके सामने हैं। लोग तो जादू, चमत्कार जानना चाहते हैं। हमारे सिद्ध पुरुष होने, अनेकानेक व्यक्तियों को सहज ही हमारे सामीप्य अनुदानों से लाभान्वित होने से उन रहस्यों को जानने की उनकी उत्सुकता है। वस्तुतः जीवित रहते तो वे सभी किंवदंतियाँ ही बनी रहेंगी, क्योंकि हमने प्रतिबंध लगा रखा है कि ऐसी बातें रहस्य के पर्दे में ही रहें। यदि उस दृष्टि से कोई हमारी जीवनचर्या पढ़ना चाहता हो, तो उसे पहले हमारी जीवनचर्या के तत्त्वदर्शन को समझना चाहिए। कुछ अलौकिक विलक्षण खोजने वालों को भी हमारे जीवन क्रम को पढ़ने से संभवतः नई दिशा मिलेगी।

प्रस्तुत जीवन वृतांत में कौतूहल व अतिवाद न होते हुए भी वैसा सारगर्भित बहुत कुछ है, जिससे अध्यात्म विज्ञान के वास्तविक स्वरूप और उसके सुनिश्चित प्रतिफल को समझने में सहायता मिलती है। उसका सही रूप विदित न होने के

कारण लोग–बाग इतनी भ्रांतियों में फँसते हैं कि भटकाव जन्य निराशा से वे श्रद्धा ही खो बैठते हैं और इसे पाखंड मानने लगते हैं। इन दिनों ऐसे प्रच्छन्न नास्तिकों की संख्या अत्यधिक है। जिनने कभी उत्साहपूर्वक पूजा–पत्री की थी, अब ज्यों–त्यों करके चिह्न पूजा करते हैं, तो भी लकीर पीटने की तरह अभ्यास के वशीभूत हो करते हैं। आनंद और उत्साह सब कुछ गुम हो गया। ऐसा असफलता के हाथ लगने के कारण हुआ। उपासना की परिणतियाँ, फलश्रुतियाँ पढ़ी–सुनी गईं थीं, उसमें से कोई कसौटी पर खरी नहीं उतरी, तो विश्वास टिकता भी कैसे?

हमारी जीवन गाथा सब जिज्ञासुओं के लिए एक प्रकाश स्तंभ का काम कर सकती है। वह एक बुद्धिजीवी और यथार्थवादी द्वारा अपनाई गई कार्यपद्धति है। छद्म जैसा कुछ उसमें है नहीं, असफलता का लाँछन भी उन पर नहीं लगता। ऐसी दशा में जो गंभीरता से समझने का प्रयत्न करेगा कि सही लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग हो सकता था, शार्टकट के फेर में भ्रम जंजाल न अपनाए गए होते, तो निराशा, खीज और थकान हाथ न लगती, तब या तो मँहगा समझकर हाथ ही न डाला जाता, यदि पाना ही था, तो उसका मूल्य चुकाने का साहस पहले से ही सँजोया गया होता। ऐसा अवसर उन्हें मिला नहीं, इसी को दुर्भाग्य कह सकते हैं। यदि हमारा जीवन पढ़ा गया होता, उसके साथ–साथ आदि से अंत तक गुँथे हुए अध्यात्म तत्त्व–दर्शन और क्रिया–विधान को समझने का अवसर मिला होता, तो निश्चय ही प्रच्छन्न भ्रमग्रस्त लोगों की संख्या इतनी न रही होती, जितनी अब है।

एक और वर्ग है–विवेक दृष्टि वाले यथार्थवादियों का। वे ऋषि परंपरा पर विश्वास करते हैं और सच्चे मन से विश्वास करते हैं कि वे आत्मबल के धनी थे। उन विभूतियों से उनने अपना, दूसरों का और समस्त विश्व का भला किया था। भौतिक विज्ञान की तुलना में जो अध्यात्म विज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, उनकी एक जिज्ञासा यह भी रहती है कि वास्तविक स्वरूप और विधान क्या है? कहने को तो हर कुंजड़ी अपने बेरों

को मीठा बताती है, पर कथनी पर विश्वास न करने वालों द्वारा उपलब्धियों का जब लेखा–जोखा लिया जाता है, तब प्रतीत होता है कि कौन कितने पानी में है?

सही क्रिया, सही लोगों द्वारा, सही प्रयोजनों के लिए अपनाए जाने पर उसका सत्परिणाम भी होना ही चाहिए। इस आधार पर जिन्हें ऋषि परंपरा के अध्यात्म का स्वरूप समझना हो, उन्हें निजी अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं है। वे हमारी जीवनचर्या को आदि से अंत तक पढ़ और परख सकते हैं। विगत साठ वर्षों में प्रत्येक वर्ष इसी प्रयोजन के लिए व्यतीत हुआ है। उसके परिणाम भी खुली पुस्तक की तरह सामने हैं। इन पर गंभीर दृष्टिपात करने पर यह अनुमान निकल सकता है कि सही परिणाम प्राप्त करने वालों ने सही मार्ग भी अवश्य अपनाया होगा। ऐसा अद्‌भुत मार्ग दूसरों के लिए भी अनुकरणीय हो सकता है। आत्म–विद्या और अध्यात्म विज्ञान की गरिमा से जो प्रभावित है, उसका पुनर्जीवन देखना चाहते हैं, प्रतिपादनों को परिणतियों की कसौटी पर कसना चाहते हैं, उन्हें निश्चय ही हमारी जीवनचर्या के पृष्ठों का पर्यवेक्षण, संतोषप्रद और समाधान कारक लगता है।

प्रत्यक्ष घटनाओं की दृष्टि से कुछ प्रकाशित किए जा रहे प्रसंगों को छोड़कर हमारे जीवन क्रम में बहुत विचित्रताएँ एवं विविधताएँ नहीं हैं। कौतुक–कौतूहल व्यक्त करने वाली उछल–कूद एवं जादू चमत्कारों की भी उसमें गुँजायश नहीं है। एक सुव्यवस्थित और सुनियोजित ढर्रे पर निष्ठापूर्वक समय कटता रहा है। इसलिए विचित्रताएँ ढूँढने वालों को उसमें निराशा भी लग सकती है, पर जो घटनाओं के पीछे काम करने वाले तथ्यों और रहस्यों में रुचि लेंगे, उन्हें इतने से भी अध्यात्म सनातन, के परंपरागत प्रवाह का परिचय मिल जाएगा और वे समझ सकेंगे कि सफलता, असफलता का कारण क्या है? क्रियाकांड को सब कुछ मान बैठना और व्यक्तित्व के परिष्कार की, पात्रता की प्राप्ति पर ध्यान न देना यही एक कारण है जिसके चलते उपासना क्षेत्र में निराशा छाई और अध्यात्म को उपहास्पद बनने, बदनाम होने का लाँछन लगा। हमारे क्रिया–कृत्य सामान्य

हैं, पर उसके पीछे उस पृष्ठभूमि का समावेश है, जो ब्रह्म–तेजस को उभारती और उसे कुछ महत्त्वपूर्ण कर सकने की समर्थता तक ले जाती है।

जीवनचर्या के घटना परक विस्तार से कौतूहल बढ़ने के अतिरिक्त कुछ लाभ है नहीं। काम की बात है इन क्रियाओं के साथ जुड़ी हुई अंतर्दृष्टि और उस आंतरिक तत्परता का समावेश, जो छोटे से बीज खाद–पानी की आवश्यकता पूरी करते हुए विशाल वृक्ष बनाने में समर्थ होती रही। वस्तुतः साधक का व्यक्तित्व ही साधना क्रम में प्राण फूँकता है, अन्यथा मात्र क्रियाकृत्य खिलवाड़ बनकर रह जाते हैं।

तुलसी का राम, सूर का हरे कृष्ण, चैतन्य का संकीर्तन, मीरा का गायन , रामकृष्ण का पूजन मात्र क्रिया–कृत्यों के कारण सफल नहीं हुआ था। ऐसा औड़म–बौड़म तो दूसरे असंख्य करते रहते हैं, पर उनके पल्ले विडबंना के अतिरिक्त और कुछ नहीं पड़ता, वाल्मीकि ने जीवन बदला तो, उल्टा नाम जपते ही मूर्धन्य हो गए। अजामिल, अंगुलिमाल, गणिका, आम्रपाली मात्र कुछ अक्षर दुहराना ही नहीं सीखे थे, उनने अपनी जीवनचर्या को भी अध्यात्म आदर्शों के अनुरूप ढाला।

आज कुछ ऐसी विडबंना चल पड़ी है कि लोग कुछ अक्षर दुहराने और क्रिया–कृत्य करने, स्तवन, उपहार प्रस्तुत करने भर से अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं। चिंतन, चरित्र और व्यवहार को उस आदर्शवादिता के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करते, जो आत्मिक प्रगति के लिए अनिवार्य रूप में आवश्यक है। अपनी साधना पद्धति में इस भूल का समावेश न होने देने का आरंभ से ही ध्यान रखा गया। अस्तु, वह यथार्थवादी भी है और सर्व साधारण के लिए उपयोगी भी। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही जीवन चर्या को पढ़ा जाए।

जीवन के सौभाग्य का सूर्योदय

हमारे जीवन का पचहत्तरवाँ वर्ष पूरा हो चुका। इस लंबी अवधि में मात्र एक काम करने का मन हुआ और उसी को करने में जुट गए। वह प्रयोजन था ''साधना से सिद्धि'' का अन्वेषण–पर्यवेक्षण। इसके लिए यही उपयुक्त लगा कि जिस प्रकार अनेक वैज्ञानिकों ने पूरी–पूरी जिंदगियाँ लगाकर अन्वेषण कार्य किया और उसके द्वारा समूची मानव जाति की महती सेवा संभव हो सकी, ठीक उसी प्रकार यह देखा जाना चाहिए कि पुरातन काल से चली आ रही ''साधना से सिद्धि'' की प्रक्रिया का सिद्धांत सही है या गलत? इसका परीक्षण दूसरों के ऊपर न करके अपने ऊपर किया जाए। यह विचारणा दस वर्ष की उम्र से उठी एवं पंद्रह वर्ष की आयु तक निरंतर विचार क्षेत्र में चलती रही। इसी बीच अन्यान्य घटनाक्रमों का परिचय देना हो, तो इतना ही बताया जा सकता है कि हमारे पिताजी अपने सहपाठी महामना मालवीय जी के पास हमारा उपनयन संस्कार कराके लाए। उसी को ''गायत्री दीक्षा'' कहा गया। ग्राम के स्कूल में प्राइमरी पाठशाला तक की पढ़ाई की। पिताजी ने ही लघु कौमुदी सिद्धांत के आधार पर संस्कृत व्याकरण पढ़ा दिया। वे श्रीमद्‌भागवत् की कथाएँ कहने राजा–महाराजाओं के यहाँ जाया करते थे। मुझे भी साथ ले जाते। इस प्रकार भागवत् का आद्योपांत वृतांत याद हो गया।

इसी बीच विवाह भी हो गया। पत्नी अनुशासन प्रिय, परिश्रमी, सेवाभावी और हमारे निर्धारणों में सहयोगिनी थी। बस समझना चाहिए कि पंद्रह वर्ष समाप्त हुए।

संध्या वंदन हमारा नियमित क्रम था। मालवीय जी ने

गायत्री मंत्र की विधिवत् दीक्षा दी थी और कहा था कि ''यह ब्राह्मण की कामधेनु है। इसे बिना नागा किए जपते रहना। पाँच माला अनिवार्य, अधिक जितनी हो जाएँ, उतनी उत्तम।'' उसी आदेश को मैंने गाँठ बाँध लिया और उसी क्रम को अनवरत चलाता रहा।

भगवान् की अनुकंपा ही कह सकते हैं कि जो अनायास ही हमारे ऊपर पंद्रह वर्ष की उम्र में बरसी और वैसा ही सुयोग बनता चला गया, जो हमारे लिए विधि द्वारा पूर्व से ही नियोजित था। हमारे बचपन में सोचे गए संकल्प को प्रयास के रूप में परिणत होने का सुयोग मिल गया।

पंद्रह वर्ष की आयु थी, प्रातः की उपासना चल रही थी। बसंत पर्व का दिन था। उस दिन ब्रह्म मुहूर्त में कोठरी में ही सामने प्रकाश–पुंज के दर्शन हुए। आँखें मलकर देखा कि कहीं कोई भ्रम तो नहीं है। प्रकाश प्रत्यक्ष था। सोचा, कोई भूत–प्रेत या देव–दानव का विग्रह तो नहीं है। ध्यान से देखने पर भी वैसा कुछ लगा नहीं। विस्मय भी हो रहा था और डर भी लग रहा था। स्तब्ध था।

प्रकाश के मध्य में ऐसे एक योगी का सूक्ष्म शरीर उभरा, सूक्ष्म इसलिए कि छवि तो दीख पड़ी, पर वह प्रकाश–पुंज के मध्य अधर में लटकी हुई थी। यह कौन है? आश्चर्य।

उस छवि ने बोलना आरंभ किया व कहा–''हम तुम्हारे साथ कई जन्मों से जुड़े हैं। मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। अब तुम्हारा बचपन छूटते ही आवश्यक मार्गदर्शन करने आए हैं। संभवतः तुम्हें पूर्व जन्मों की स्मृति नहीं है, इसी से भय और आश्चर्य हो रहा है। पिछले जन्मों का विवरण देखो और अपना संदेह निवारण करो।'' उनकी अनुकंपा हुई और योगनिद्रा जैसी झपकी आने लगी। बैठा रहा, पर स्थिति ऐसी हो गई मानों मैं निद्राग्रस्त हूँ। तंद्रा सी आने लगी। योग निद्रा कैसी होती है, इसका अनुभव मैंने जीवन में पहली बार किया। ऐसी स्थिति को ही जाग्रत समाधि भी कहते हैं। इस स्थिति में डुबकी लगाते ही एक–एक करके मुझे अपने पिछले कई जन्मों का दृश्य क्रमशः ऐसा दृष्टिगोचर होने लगा मानो वह कोई स्वप्न न होकर प्रत्यक्ष

घटनाक्रम ही हो। कई जन्मों की कई फिल्में आँखों के सामने से गुजर गईं।

आज याद आता है कि जिस सिद्ध पुरुष–अंशधर ने हमारी पंद्रह वर्ष की आयु में घर पधार कर पूजा की कोठरी में प्रकाश रूप में दर्शन दिया था, उनका दर्शन करते ही मन ही मन तत्काल अनेक प्रश्न सहसा उठ खड़े हुए थे। सद्गुरुओं की तलाश में आमतौर से जिज्ञासु गण मारे–मारे फिरते हैं। जिस–तिस से पूछते हैं। कोई कामना होती है, तो उसकी पूर्ति के वरदान माँगते हैं, पर अपने साथ जो घटित हो रहा था, वह उसके सर्वथा विपरीत था। महामना मालवीय जी से गायत्री मंत्र की दीक्षा पिताजी ने आठ वर्ष की आयु में ही दिलवा दी थी। उसी को प्राण दीक्षा बताया गया था। गुरु वरण होने की बात भी वहीं समाप्त हो गई थी और किसी गुरु प्राप्त होने की कभी कल्पना भी नहीं उठी। फिर अनायास ही वह लाभ कैसे मिला, जिसके संबंध में अनेक किंबदंतियाँ सुनकर हमें भी आश्चर्यचकित होना पड़ा है।

शिष्य गुरुओं की खोज में रहते हैं। मनुहार करते हैं। कभी उनकी अनुकंपा भेंट–दर्शन हो जाए, तो अपने को धन्य मानते हैं। उनसे कुछ प्राप्त करने की आकाँक्षा रखते हैं। फिर क्या कारण है कि मुझे अनायास ही ऐसे सिद्ध पुरुष का अनुग्रह प्राप्त हुआ? यह कोई छद्म तो नहीं है? अदृश्य में प्रकटीकरण की बात भूत–प्रेत से संबंधित सुनी जातीं हैं और उनसे भेंट होना किसी अशुभ अनिष्ट का निमित्त कारण माना जाता है। दर्शन होने के उपरांत मन में यही संकल्प उठने लगे। संदेह उठा, किसी विपत्ति में फँसने जैसा कोई अशुभ तो पीछे नहीं पड़ा।

मेरे इस असमंजस को उन्होंने जाना। रुष्ट नहीं हुए। वरन् वस्तु स्थिति को जानने के उपरांत किसी निष्कर्ष पर पहुँचने और बाद में कदम उठाने की बात उन्हें पसंद आई। यह बात उनकी प्रसन्न मुख–मुद्रा को देखने से स्पष्ट झलकती थी। कारण पूछने में समय नष्ट करने के स्थान पर उन्हें यह अच्छा लगा कि अपना परिचय, आने का कारण और मुझे पूर्व जन्म की स्मृति दिलाकर विशेष प्रयोजन निमित्त चुनने का हेतु स्वतः ही

समझा दें। कोई घर आता है, तो उसका परिचय और आगमन का निमित्त कारण पूछने का लोक व्यवहार भी है। फिर कोई वजनदार आगंतुक जिसके घर आते हैं, उसका भी वजन तोलते हैं। अकारण हल्के और ओछे आदमी के यहाँ जा पहुँचना उनका महत्व भी घटाता है और किसी तर्क बुद्धि वाले के मन में ऐसा कुछ घटित होने के पीछे कोई कारण न होने की बात पर संदेह होता है और आश्चर्य भी।

पूजा की कोठरी में प्रकाश–पुंज उस मानव ने कहा– "तुम्हारा सोचना सही है। देवात्माएँ जिनके साथ संबंध जोड़ती हैं, उन्हें परखती हैं। अपनी शक्ति और समय खर्च करने से पूर्व कुछ जाँच–पड़ताल भी करती हैं। जो भी चाहे उसके आगे प्रकट होने लगे और उसका इच्छित प्रयोजन पूरा करने लगें, ऐसा नहीं होता। पात्र कुपात्र का अंतर किए बिना चाहे जिसके साथ संबंध जोड़ना कसी बुद्धिमान और सामर्थ्यवान के लिए कभी कहीं संभव नहीं होता। कई लोग ऐसा सोचते तो हैं कि किसी संपन्न महामानव के साथ संबंध जोड़ने में लाभ है, पर यह भूल जाते हैं कि दूसरा पक्ष अपनी सामर्थ्य किसी निरर्थक व्यक्ति के निमित्त क्यों गँवाएँगे?"

'हम सूक्ष्म दृष्टि से ऐसे सत्पात्र की तलाश करते रहे, जिसे सामयिक लोक–कल्याण का निमित्त कारण बनाने के लिए प्रत्यक्ष कारण बताएँ। हमारा यह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर से स्थूल कार्य नहीं बन पड़ते। इसके लिए किसी स्थूल शरीर धारी को ही माध्यम और शस्त्र की तरह प्रयुक्त करना पड़ता है। यह विषम समय है। इसमें मनुष्य का अहित होने की अधिक संभावनाएँ हैं। उन्हीं का समाधान करने के निमित्त तुम्हें माध्यम बनाना है। जो कमी है, उसे दूर करना है। अपना मार्ग दर्शन और सहयोग देना है। इसी निमित्त तुम्हारे पास आना हुआ है। अब तक तुम अपने सामान्य जीवन से ही परिचित थे। अपने को साधारण व्यक्ति ही देखते थे। असमंजस का एक कारण यह भी है। तुम्हारी पात्रता का वर्णन करें, तो भी कदाचित तुम्हारा संदेह निवारण न हो। कोई किसी बात पर अनायास ही विश्वास करे, ऐसा समय भी कहाँ है? इसीलिए तुम्हें पिछले तीन

जन्मों की जानकारी दी गई।''

सभी पूर्व जन्मों का विस्तृत विवरण जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक का दर्शाने के बाद उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे इन सभी में हमारे साथ रहे और सहायक बने।

वे बोले–''यह तुम्हारा दिव्य जन्म है। तुम्हारे इस जन्म में भी सहायक रहेंगे और इस शरीर से वह कराएँगे, जो समय की दृष्टि से आवश्यक है, सूक्ष्म शरीरधारी प्रत्यक्ष जन–संपर्क नहीं कर सकते और न घटनाक्रम स्थूल शरीरधारियों द्वारा ही संपन्न होते हैं, इसलिए योगियों को उन्हीं का सहारा लेना पड़ता है।

तुम्हारा विवाह हो गया सो ठीक हुआ। यह समय ऐसा है, जिसमें एकाकी रहने से लाभ कम और जोखिम अधिक है। प्राचीन काल में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, गणेश, इंद्र आदि सभी सपत्नीक थे। सातों ऋषियों की पत्नियाँ थीं, कारण कि गुरुकुल आरण्यक स्तर के आश्रम चलाने में माता की भी आवश्यकता पड़ती है और पिता की भी। भोजन, निवास, वस्त्र, दुलार, आदि के लिए भी माता चाहिए और अनुशासन, अध्यापन, अनुदान पिता की ओर से ही मिलता है। गुरु ही पिता है और गुरु की पत्नी ही माता है, उसी ऋषि परंपरा के निर्वाह के लिए यह उचित भी है, आवश्यक भी। आजकल भजन के नाम पर जिस प्रकार आलसी लोग संत का बाना पहनते और भ्रम जंजाल फैलाते हैं, तुम्हारे विवाहित होने से मैं प्रसन्न हूँ। इसमें बीच में व्यवधान तो आ सकता है, पर पुनः तुम्हें पूर्व जन्म में तुम्हारे साथ रही सहयोगिनी पत्नी के रूप में मिलेगी, जो आजीवन तुम्हारे साथ रहकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहेगी। पिछले दो जन्मों में तुम्हें सपत्नीक रहना पड़ा है। यह सोचना कि इससे कार्य में बाधा पड़ेगी। वस्तुतः इससे आज, परिस्थितियों में सुविधा ही रहेगी एवं युग परिवर्तन के प्रयोजन में भी सहायता मिलेगी।''

वह पावन दिन बसंत पर्व का दिन था। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त था। नित्य की तरह संध्या वंदन का नियम निर्वाह चल रहा था। प्रकाश पुंज के रूप में देवात्मा का दिव्य–दर्शन, उसी कौतूहल

से मन में उठी जिज्ञासा और उसके समाधान का यह उपक्रम चल रहा था। नया भाव जगा उस प्रकाश पुंज से घनिष्ठ आत्मीयता का। उनकी महानता, अनुकंपा और साथ ही अपनी कृतज्ञता का। इस स्थिति ने मन का कायाकल्प कर दिया था। कल तक जो परिवार अपना लगता था, वह पराया होने लगा और जो प्रकाश पुंज अभी–अभी सामने आया था, वह प्रतीत होने लगा कि मानों यही हमारी आत्मा है। इसी के साथ हमारा भूतकाल बँधा हुआ था और अब जितने दिन जीना है, वह अधिक अवधि भी इसी के साथ जुड़ी रहेगी। अपनी ओर से कुछ कहना नहीं। कुछ चाहना नहीं, किंतु दूसरे का जो आदेश हो उसे प्राण–पण से पालन करना। इसी का नाम समर्पण है। समर्पण मैंने उसी दिन प्रकाश पुँज देवात्मा को किया और उन्हीं को न केवल मार्ग दर्शक वरन् भगवान् के समतुल्य माना। उस संबंध निर्वाह को प्रायः साठ वर्ष से अधिक होने को आते हैं। बिना कोई तर्क बुद्धि लड़ाए, बिना कुछ ननुच किए, उनके इशारे पर एक ही मार्ग पर गतिशीलता होती रही है। संभव है या नहीं अपने बूते यह हो सकेगा या नहीं, इसके परिणाम क्या होंगे? इन प्रश्नों में से एक भी प्रश्न आज तक मन में उठा नहीं।

उस दिन मैंने एक और नई बात समझी कि सिद्ध पुरुषों की अनुकंपा मात्र लोक–हित के लिए, सत्प्रवृत्ति–संवर्धन के निमित्त होती है। उनका न कोई सगा संबंधी होता है न उदासीन विरोधी। किसी को ख्याति, संपदा या कीर्ति दिलाने के लिए उनकी कृपा नहीं बरसती। विराट ब्रह्म–विश्व मानव ही उनका आराध्य होता है। उसी के निमित्त अपने स्वजनों को वे लगाते हैं, अपनी इस नवोदित मान्यता के पीछे रामकृष्ण–विवेकानंद का, समर्थ रामदास–शिवाजी का, चाणक्य–चंद्रगुप्त का, गाँधी–बिनोवा का, बुद्ध–अशोक का गुरु शिष्य संबंध स्मरण हो आया। जिनकी आत्मीयता में ऐसा कुछ न हो, सिद्धि–चमत्कार, कौतुक–कौतूहल, दिखाने या सिखाने का क्रिया–कलाप चलता रहा हो, समझना चाहिए कि वहाँ गुरु और शिष्य की क्षुद्र प्रवृत्ति है और जादूगर–बाजीगर जैसा कोई खेल–खिलवाड़ चल रहा है। गंध–

बाबा चाहे जिसे सुगंधित फूल सुँघा देते थे। बाघ बाबा–अपनी कुटी में बाघ को बुलाकर बिठा लेते थे। समाधि बाबा कई दिन तक जमीन में गड़े रहते थे। सिद्ध बाबा–आगंतुकों की मनोकामना पूरी करते थे। ऐसी–ऐसी जनश्रुतियाँ भी दिमाग में घूम गईं और समझ में आया कि यदि इन घटनाओं के पीछे मिस्मेरिज्म स्तर की जादूगरी थी, तो महान् कैसे हो सकते हैं? ठंडे प्रदेश में गुफा में रहना जैसी घटनाएँ भी कौतूहल वर्धक ही है। जो काम साधारण आदमी न कर सके, उसे कोई एक करामात की तरह कर दिखाए तो इसमें कहने भर की सिद्धाई है। मौन रहना, हाथ पर रखकर भोजन करना, एक हाथ ऊपर रखना, झूले पर पड़े–पड़े समय गुजारना जैसे असाधारण करतब दिखाने वाले बाजीगर सिद्ध हो सकते हैं, पर यदि कोई वास्तविक सिद्ध या शिष्य होगा, तो उसे पुरातन काल के, लोक मंगल के लिए जीवन उत्सर्ग करने वाले ऋषियों के राजमार्ग पर चलना पड़ा होगा। आधुनिक काल में भी विवेकानंद, दयानंद, कबीर, चैतन्य, समर्थ की तरह उसी मार्ग पर चलना पड़ा होगा। भगवान् अपना नाम जपने मात्र से प्रसन्न नहीं होते, न उन्हें पूजा–प्रसाद आदि की आवश्यकता है। जो उनके इस विश्व उद्यान को सुरम्य, सुविकसित करने में लगते हैं, उन्हीं का नाम–जप सार्थक है। यह विचार मेरे मन में उसी वसंत पर्व के दिन, दिन–भर उठते रहे, क्योंकि उनने स्पष्ट कहा था कि ''पात्रता में जो कमी है, उसे पूरा करने के साथ–साथ लोक–मंगल का कार्य भी साथ–साथ करना है। एक के बाद दूसरा नहीं दोनों साथ–साथ।'' चौबीस वर्ष पालन करने योग्य नियम बताए, साथ ही स्वतंत्रता संग्राम में एक सच्चे स्वयं सेवक की तरह काम करते रहने के लिए कहा।

उस दिन उन्होंने हमारा समूचा जीवनक्रम किस प्रकार चलना चाहिए, इसका स्वरूप एवं पूरा विवरण बताया। बताया ही नहीं, स्वयं लगाम हाथ में लेकर चलाया भी। चलाया भी नहीं, हर प्रयास को सफल भी बनाया।

उसी दिन हमने सच्चे मन से उन्हें समर्पण किया। वाणी ने नहीं, आत्मा ने कहा–''जो कुछ पास में है, आपके निमित्त ही

अर्पण। भगवान् को हमने देखा नहीं, पर वह जो कल्याण कर सकता था, वही कर रहे हैं। इसलिए आप हमारे भगवान् है। जो आज सारे जीवन का ढाँचा आपने बताया है, उसमें राई–रत्ती प्रमाद न होगा।"

उस दिन उनने भावी जीवन संबंधी थोड़ी सी बातें विस्तार से समझाईं। १–गायत्री महाशक्ति के चौबीस वर्ष में चौबीस महापुरश्चरण, २–अखंड घृत दीप की स्थापना, ३–चौबीस वर्ष में एवं उसके बाद समय–समय पर क्रमबद्ध मार्गदर्शन के लिए चार बार हिमालय अपने स्थान पर बुलाना, प्रायः छः माह से एक वर्ष तक अपने समीपवर्ती क्षेत्र में ठहराना।

इस संदर्भ में और भी विस्तृत विवरण उनको बताना था, सो बता दिया। विज्ञ पाठकों को इतनी ही जानकारी पर्याप्त है, जितना ऊपर उल्लेख है। उनके बताए निर्देशानुसार सारे काम जीवन भर निभते चले गए एवं वे उपलब्धियाँ हस्तगत होती रहीं, जिन्होंने आज हमें वर्तमान स्थिति में ला बिठाया है।

समर्थगुरु की प्राप्ति—एक अनुपम सुयोग

रामकृष्ण, विवेकानंद को ढूँढते हुए उनके घर गए थे। शिवाजी को समर्थ गुरु रामदास ने खोजा था। चाणक्य चंद्रगुप्त को पकड़ कर लाए थे। गोखले गाँधी पर सवार हुए थे। हमारे संबंध में भी यही बात है। मार्गदर्शक सूक्ष्म शरीर से पंद्रह वर्ष की आयु में घर आए थे और आस्था जगाकर उन्होंने दिशा विशेष पर लगाया था।

सोचता हूँ कि जब असंख्य सद्गुरु की तलाश में फिरते और धूर्तों से सिर मुड़ाने के उपरांत खाली हाथ वापस लौटते हैं, तब अपनी ही विशेषता थी, जिसके कारण एक दिव्य शक्ति को बिना बुलाए स्वेच्छापूर्वक घर आना और अनुग्रह बरसाना पड़ा। इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि जन्मांतरों से पात्रता के अर्जन का प्रयास। यह प्रायः जल्दी नहीं हो पाता। व्रतशील होकर लंबे समय तक कुसंस्कारों के विरुद्ध लड़ना होता है।

संकल्प, धैर्य और श्रद्धा का त्रिविध सुयोग अपनाए रहने पर मनोभूमि ऐसी बनती है कि अध्यात्म के दिव्य अवतरण को धारण कर सके। यह पात्रता ही शिष्यत्व है, जिसकी पूर्ति कहीं से भी हो जाती है। समय पात्रता विकसित करने में लगता है, गुरु मिलने में नहीं। एकलव्य के मिट्टी के द्रोणाचार्य असली की तुलना में कहीं अधिक कारगर सिद्ध होने लगे थे। कबीर को अछूत होने के कारण जब रामानंद ने दीक्षा देने से इंकार कर दिया, तो उनने एक युक्ति निकाली। काशी घाट की जिस सीढ़ियों पर रामानंद नित्य स्नान के लिए जाया करते थे, उन

पर भोर होने से पूर्व ही कबीर जा लेटे, रामानंद अंधेरे में निकले, तो पैर लड़के के सीने पर पड़ा। चौंके राम–नाम कहते हुए पीछे हट गए। कबीर ने इसी को दीक्षा संस्कार मान लिया और राम नाम को मंत्र तथा रामानंद को गुरु कहने लगे। यह श्रद्धा का विषय है। जब पत्थर की प्रतिमा देवता बन सकती है, तो श्रद्धा के बल पर किसी उपयुक्त व्यक्तित्व को गुरु क्यों नहीं बनाया जा सकता? आवश्यक नहीं कि इसके लिए विधिवत् संस्कार कराया ही जाए, कान फुकवाए ही जाएँ।

अध्यात्म प्रयोजनों के लिए गुरु स्तर के सहायक की इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि उसे पिता और अध्यापक का दुहरा उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। पिता बच्चे को अपनी कमाई का एक अंश देकर पढ़ने की सारी साधन सामग्री जुटाता है। अध्यापक उनके ज्ञान अनुभव को बढ़ाता है। दोनों के सहयोग से ही बच्चे का निर्वाह और शिक्षण चलता है। भौतिक निर्वाह की आवश्यकता तो पिता भी पूरा कर देता है, पर आत्मिक क्षेत्र में प्रगति के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उसमें मनःस्थिति के अनुरूप मार्गदर्शन करने तथा सौंपे हुए कार्य को कर सकने के लिए आवश्यक सामर्थ्य गुरु अपने संचित तप भंडार में से निकालकर हस्तांतरित करता है। इसके बिना अनाथ बालक की तरह शिष्य एकाकी पुरुषार्थ के बलबूते उतना नहीं कर सकता, जितना कि करना चाहिए, इसी कारण– ''गुरु बिन होई न ज्ञान'', की उक्ति अध्यात्म क्षेत्र में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

दूसरे लोग गुरु तलाश करते फिरते भी हैं, पर सुयोग्य तक जा पहुँचने पर निराश होते हैं। स्वाभाविक है, इतना घोर परिश्रम और कष्ट सह कर की गई कमाई ऐसे ही कुपात्र और विलास संग्रह, अहंकार, अपव्यय के लिए हस्तांतरित नहीं की जा सकती। देने वाले में इतनी बुद्धि भी होती है कि लेने वाले की प्रामाणिकता किस स्तर की है, जो दिया जा रहा है, उसका उपयोग किस कार्य में होगा, यह भी जाँचें। जो लोग इस कसौटी पर खोटे उतरते हैं, उनकी दाल नहीं गलती। इन्हें वे ही लोग मूँड़ते हैं, जिनके पास देने को कुछ नहीं है। मात्र

शिकार फँसाकर शिष्य से जिस–तिस बहाने दान–दक्षिणा माँगते रहते हैं। प्रसन्नता की बात है कि इस विडंबना भरे प्रचलित कुचक्र में हमें नहीं फँसना पड़ा। हिमालय की एक सत्ता अनायास ही घर बैठे मार्गदर्शन के लिए आ गई और हमारा जीवन धन्य हो गया।

हमें इतने समर्थ गुरु अनायास ही कैसे मिले? इस प्रश्न का एक ही समाधान निकलता है कि उसके लिए लंबे समय से जन्म–जन्मांतरों में पात्रता अर्जन की धैर्य पूर्वक तैयारी की गई। उतावली नहीं बरती गई। बातों में फँसाकर किसी गुरु की जेब काट लेने जैसी उस्तादी नहीं बरती गई, वरन् यह प्रतीक्षा की गई कि अपने नाले को किसी पवित्र सरिता में मिलाकर अपनी हस्ती का उसी में समापन किया जाए। किसी भौतिक प्रयोजन के लिए इस सुयोग की ताक–झाँक नहीं की गई, वरन् यही सोचा जाता रहा कि जीवन संपदा की श्रद्धांजलि किसी देवता के चरणों में समर्पित करके धन्य बनाया जाए।

दयानंद ने गुरु विरजानंद की इच्छानुरूप अपने जीवन का उत्सर्ग किया था। विवेकानंद अपनी सभी इच्छाएँ समाप्त करके गुरु को संतोष देने वाले कष्टसाध्य कार्य में प्रवृत्त हुए थे। इसी में सच्ची गुरु भक्ति और गुरु दक्षिणा है। हनुमान ने राम को अपना समर्पण करके प्रत्यक्षतः तो सब कुछ खोया ही था, पर परोक्षतः वे संत तुल्य ही बन गए थे और वह कार्य करने लगे थे, जो राम के ही बलबूते के थे। समुद्र छलाँगना, पर्वत उखाड़ना, लंका जलाना बेचारे हनुमान नहीं कर सकते थे। वे तो अपने सुग्रीव को बाली के अत्याचार तक से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सके थे। समर्पण ही था जिसने एकात्मता उत्पन्न कर दी। गंदे नाले में थोड़ा गंगा जल गिर पड़े, तो वह गंदगी बन जाएगा, यदि बहती हुई गंगा में थोड़ी गंदगी जा मिले, तो फिर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। जो बचेगा मात्र गंगाजल ही होगा। जो स्वयं समर्थ नहीं हैं, वे सभी समर्थों के प्रति समर्पित होकर उन्हीं के समतुल्य बन गए हैं। ईंधन जब आग से लिपट जाता है, तो फिर उसकी हेय स्थिति नहीं रहती, वरन् अग्नि के समान प्रखरता आ जाती है, वह तद्रूप हो जाता है।

श्रद्धा का केंद्र भगवान् है और प्राप्त भी उसी को करना पड़ता है, पर उस अदृश्य के साथ संबंध जोड़ने के लिए किसी दृश्य प्रतीक का सहारा लेना आवश्यक होता है। इस कार्य को देव प्रतिमाओं के सहारे भी संपन्न किया जा सकता है और देहधारी गुरु यदि इस स्तर का है, तो उस आवश्यकता की पूर्ति करा सकता है।

हमारे यह मनोरथ अनायास ही पूरे हो गए। अनायास इसलिए कि उसके लिए पिछले जन्मों से पात्रता उत्पन्न करने की पृथक साधना आरंभ कर दी गई थी। कुंडलिनी जागरण, ईश्वर दर्शन स्वर्ग मुक्ति तो बहुत पीछे की वस्तु है। सबसे प्रथम दैवी अनुदानों को पा सकने की क्षमता अर्जित करनी पड़ती है। अन्यथा जो वजन न उठ सके, जो भोजन न पच सके वह उल्टे और भी बड़ी विपत्ति खड़ी करता है।

प्रथम मिलन के दिन समर्पण संपन्न हुआ और उसके सच्चे झूठे होने की परीक्षा भी तत्काल ही चल पड़ी। दो बातें विशेष रूप से कही गईं—"संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना। दूसरा यह है कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने के लिए तपश्चर्या में जुट जाना। चौबीस वर्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण के साथ जौ की रोटी और छाछ पर निर्वाह करने का अनुशासन रखा। सामर्थ्य विकसित होते ही वह सब कुछ मिलेगा जो अध्यात्म मार्ग के साधकों को मिलता है, किंतु मिलेगा विशुद्ध परमार्थ के लिए। तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में उन दैवी अनुदानों को प्रयुक्त न किया जा सके।" बसंत पर्व का यह दिन, गुरु अनुशासन की अवधारणा ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। याचकों की कमी नहीं, पर सत्पात्रों पर सब कुछ लुटा देने वाले सहृदयों की भी कमी नहीं। कृष्ण ने सुदामा पर सब कुछ लुटा दिया था। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।

मार्गदर्शक द्वारा भावी जीवन क्रम संबंधी निर्देश

हमारा अनुभव यह रहा है कि जितनी उत्सुकता साधकों को सिद्ध पुरुष खोजने की होती है, उससे असंख्य गुनी उत्कंठा सिद्ध पुरुषों की सुपात्र साधकों की तलाश करने के निमित्त होती है। साधक सत्पात्र चाहिए। जिसने अपना चिंतन, चरित्र और व्यवहार परिष्कृत कर लिया हो, वही सच्चा साधक है। उसे मार्गदर्शक खोजने नहीं पड़ते, वरन् वे दौड़कर स्वयं उनके पास आते और उँगली पकड़कर आगे चलने का रास्ता बताते हैं। जहाँ वे लड़खड़ाते हैं वहाँ गोदी में उठाकर कंधे पर बिठाकर पार लगाते हैं। हमारे संबंध में यही हुआ है। घर बैठे पधारकर अधिक सामर्थ्यवान बनाने के लिए २४ वर्ष का गायत्री पुरश्चरण उन्होंने कराया एवं उसकी पूर्णाहुति में सहस्त्र कुंडी गायत्री यज्ञ संपन्न कराया है। धर्मतंत्र से लोक शिक्षण के लिए एक लाख अपरिचित व्यक्तियों को परिचित ही नहीं घनिष्ठ बनाकर कंधे से कंधा, कदम से कदम मिलाकर चलने योग्य बना दिया।

अपने प्रथम दर्शन में ही चौबीस महापुरश्चरण पूरे होने एवं चार बार एक–एक वर्ष के लिए हिमालय बुलाने की बात गुरुदेव ने कही।

हमें हिमालय पर बार–बार बुलाए जाने के कारण थे। एक यह जानना कि सुनसान प्रकृति के सान्निध्य में, प्राणियों के अभाव में आत्मा को एकाकीपन कहीं अखरता तो नहीं? दूसरे यह कि इस क्षेत्र में रहने वाले हिंसक पशुओं के साथ मित्रता बना सकने लायक आत्मीयता विकसित हुई या नहीं, तीसरे वह समूचा क्षेत्र देवात्मा है। उसमें ऋषियों ने मानवी काया में रहते

हुए देवत्व उभारा और देव मानव के रूप में ऐसी भूमिकाएँ निभाईं, जो साधन और सहयोग के अभाव में साधारण जनों के लिए कर सकना संभव नहीं थीं। उनसे हमारा प्रत्यक्षीकरण कराया जाना था।

उनका मूक निर्देश था कि अगले दिनों उपलब्ध आत्मबल का उपयोग हमें ऐसे ही प्रयोजन के लिए एक साथ करना है, जो ऋषियों ने समय–समय पर तात्कालिक समस्याओं के समाधान के निमित्त अपने प्रबल पुरुषार्थ से संपन्न किया है। यह समय ऐसा है जिसमें अगणित अभावों की एक साथ पूर्ति करनी है। साथ ही एक साथ चढ़ दौड़ी अनेकानेक विपत्तियों से जूझना है, यह दोनों ही कार्य इसी उत्तराखंड कुरुक्षेत्र में पिछले दिनों संपन्न हुए हैं। पुरातन देवताओं–ऋषियों में से कुछ आँशिक रूप से सफल हुए हैं, कुछ असफल भी रहे हैं। इस बार एकाकी वे सब प्रयत्न करने और समय की माँग को पूरा करना है। इसके लिए जो मोर्चे बंदी करनी है, उसकी झलक–झाँकी समय रहते कर ली जाए, ताकि कंधों पर आने वाले उत्तरदायित्वों की पूर्व जानकारी रहे और पूर्वज किस प्रकार दाँव–पेंच अपना कर विजयश्री को वरण करते हैं, इस अनुभव से कुछ न कुछ सरलता मिले। यह तीनों ही प्रयोजन समझने, अपनाने और परीक्षा उत्तीर्ण होने के निमित्त ही हमारी भावी हिमालय यात्राएँ होनी हैं, ऐसा उनका निर्देश था। आगे उन्होंने बताया–''हम लोगों की तरह तुम्हें भी सूक्ष्म शरीर के माध्यम से अति महत्वपूर्ण कार्य करने होंगे। इसका पूर्वाभ्यास करने के लिए यह सीखना होगा कि स्थूल शरीर से हिमालय के किस भाग में कितने समय तक, किस प्रकार ठहरा जा सकता है और निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रहा जा सकता है।''

सहज शीत, ताप के मौसम में, जीवनोपयोगी सभी वस्तुएं मिल जाती हैं, शरीर पर भी ऋतुओं का असह्य दबाव नहीं पड़ता, किंतु हिमालय क्षेत्र के असुविधाओं वाले प्रदेश में स्वल्प साधनों के सहारे कैसे रहा जा सकता है, यह भी एक कला है साधना है। जिस प्रकार नट शरीर को साधकर अनेक प्रकार के कौतूहलों का अभ्यास कर लेते हैं, लगभग उसी प्रकार क

वह अभ्यास है, जिसमें नितांत एकाकी रहना पड़ता है। पत्तियों और कंदों के सहारे निर्वाह करना पड़ता है और हिंस्र जीव–जंतुओं के बीच रहते हुए अपने प्राणों को बचाना पड़ता है।

जब तक स्थूल शरीर है, तभी तक यह झंझट है। सूक्ष्म शरीर में चले जाने पर वे आवश्यकताएँ समाप्त हो जाती हैं, जो स्थूल शरीर के साथ जुड़ी हुई हैं। सर्दी–गर्मी से बचाव, क्षुधा, पिपासा का निवारण, निद्रा और थकान का दबाव यह सब झंझट उस स्थिति में रहते हैं। पैरों से चलकर मनुष्य थोड़ी दूर जा पाता है, किंतु सूक्ष्म शरीर के लिए एक दिन में सैकड़ों योजनों की यात्रा संभव है। एक साथ, एक मुख से सहस्त्रों व्यक्तियों के अंतःकरणों तक अपना संदेश पहुँचाया जा सकता है। दूसरों की इतनी सहायता सूक्ष्म शरीर धारी कर सकते हैं, जो स्थूल शरीर रहते संभव नहीं। इसलिए सिद्ध पुरुष सूक्ष्म शरीर द्वारा काम करते हैं। उनकी साधनाएँ भी स्थूल शरीर वालों की अपेक्षा भिन्न हैं।

स्थूल शरीर धारियों की एक छोटी सीमा है। उनकी बहुत सारी शक्ति तो शरीर की आवश्यकताएँ जुटाने में दुर्बलता, रुग्णता, जीर्णता आदि के व्यवधानों से निपटने में खर्च हो जाती है, किंतु लाभ यह है कि प्रत्यक्ष दृश्यमान कार्य स्थूल शरीर से ही हो पाते हैं। इस स्तर के व्यक्तियों के साथ घुलना–मिलना, आदान–प्रदान इसी के सहारे संभव है। इसलिए जन–साधारण के साथ संपर्क साधे रहने के लिए प्रत्यक्ष शरीर से ही काम लेना पड़ता है। फिर वह जरा–जीर्ण हो जाने पर अशक्त हो जाता है और त्यागना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा आरंभ किए गए काम अधूरे रह जाते हैं। इसलिए जिन्हें लंबे समय तक ठहरना है और महत्वपूर्ण व्यक्तियों के अंतराल में प्रेरणाएँ एवं क्षमताएँ देकर बड़े काम कराते रहना हैं, उन्हें सूक्ष्म शरीर में ही प्रवेश करना पड़ता है।

''जब तक तुम्हारे स्थूल शरीर की उपयोगिता रहेगी, तभी तक वह काम करेगा। इसके उपरांत इसे छोड़कर सूक्ष्म शरीर में चला जाना होगा। तब साधनाएँ भिन्न होंगी, क्षमताएँ बढ़ी–चढ़ी होंगी। विशिष्ट व्यक्तियों से संपर्क रहेगा। बड़े काम

इसी प्रकार हो सकेंगे।''

गुरुदेव ने कहा–''उचित समय आने पर तुम्हारा परिचय देवात्मा हिमालय क्षेत्र से कराना होगा। गोमुख से पहले संत महापुरुष स्थूल शरीर समेत निवास करते हैं। इस क्षेत्र में भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। इनके बीच निर्वाह करने का अभ्यास करने के लिए, एक–एक साल वहाँ निवास करने का क्रम बना देने की योजनाएँ बनाईं हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय का हृदय जिसे अध्यात्म का ध्रुव केंद्र कहते हैं, उसमें चार–चार दिन ठहरना होगा, हम साथ रहेंगे। स्थूल शरीर जैसी स्थिति सूक्ष्म शरीर की बनाते रहेंगे। वहाँ कौन रहता है, किस स्थिति में रहता है, तुम्हें कैसे रहना होगा, यह भी तुम्हें विदित हो जाएगा। दोनों शरीरों का, दोनों क्षेत्रों का अनुभव क्रमशः बढ़ते रहने में तुम इस स्थिति में पहुँच जाओगे, जिसमें ऋषि अपने निर्धारित संकल्पों की पूर्ति में संलग्न रहते हैं। संक्षेप में यही है तुम्हें चार बार हिमालय बुलाने का उद्देश्य। इसके लिए जो अभ्यास करना पड़ेगा, जो परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ेगी, यह उद्देश्य भी इस बुलावे का है। तुम्हारी यहाँ पुरश्चरण साधना में इस विशिष्ट प्रयोग से कोई विघ्न न पड़ेगा।

सूक्ष्म शरीरधारी उसी क्षेत्र में इन दिनों निवास करते हैं। पिछले हिम युग के बाद परिस्थितियाँ बदल गईं हैं। जहाँ धरती का स्वर्ग था, वहाँ का वातावरण अब देवताओं के उपयुक्त नहीं रहा, इसलिए वे अंतरिक्ष में रहते हैं।

पूर्वकाल में ऋषिगण गोमुख से ऋषिकेश तक अपनी–अपनी रुचि और सुविधाओं के अनुसार रहते थे। वह क्षेत्र अब पर्यटकों, तीर्थयात्रियों और व्यवसाइयों से भर गया है। इसलिए उसे उन्हीं लोगों के लिए छोड़ दिया गया है। अनेक देव मंदिर बन गए हैं, ताकि यात्रियों का कौतूहल, पुरातन काल का इतिहास और निवासियों का निर्वाह चलता रहे।''

हमें बताया गया कि थियोसोफी की संस्थापिका ब्लैवेट्स्की सिद्ध पुरुष थीं। ऐसी मान्यता है कि वे स्थूल शरीर में रहते हुए भी सूक्ष्म शरीरधारियों के संपर्क में थीं। उनने अपनी पुस्तकों में लिखा है कि दुर्गम हिमालय में ''अदृश्य सिद्ध पुरुषों की

पार्लियामेंट'' है। इसी प्रकार उस क्षेत्र के दिव्य निवासियों को ''अदृश्य सहायक'' भी कहा गया है। गुरुदेव ने कहा कि ''वह सब सत्य है, तुम अपने दिव्य चक्षुओं से यह सब उसी हिमालय क्षेत्र में देखोगे, जहाँ हमारा निवास है।'' तिब्बत क्षेत्र उन दिनों हिमालय की परिधि में आता था। अब वह परिधि घट गई है, तो भी व्लैवेट्स्की का कथन सत्य है। स्थूल शरीरधारी उसे देख नहीं पाते, पर हमें अपने मार्गदर्शक गुरुदेव की सहायता से उसे देख सकने का आश्वासन मिल गया।

गुरुदेव ने कहा–''हमारे बुलावे की प्रतीक्षा करते रहना। जब परीक्षा की स्थिति के लिए उपयुक्तता एवं आवश्यकता समझी जाएगी, तभी बुलाया जाएगा। अपनी ओर से उसकी इच्छा या प्रतीक्षा मत करना। अपनी ओर से जिज्ञासावश उधर प्रयाण भी मत करना। वह सब निरर्थक रहेगा। तुम्हारे समर्पण के उपरांत यह जिम्मेदारी हमारी हो जाती है।'' इतना कहकर वे अंतर्ध्यान हो गए।

दिए गए कार्यक्रमों का प्राण–पण से निर्वाह

इस प्रथम साक्षात्कार के समय मार्गदर्शक सत्ता द्वारा तीन कार्यक्रम दिए गए थे। सभी नियमोपनियमों के साथ २४ वर्ष का २४ गायत्री महापुरश्चरण संपन्न किया जाना था। अखंड घृत दीपक को भी साथ–साथ निभाना था। अपनी पात्रता में क्रमशः कमी पूरी करने के साथ–साथ लोकमंगल की भूमिका निभाने हेतु साहित्य सृजन करनां दूसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व था। इसके लिए गहन स्वाध्याय भी करना था, जो एकाग्रता संपादन की साधना थी। साथ ही जन–संपर्क का भी कार्य करना था, ताकि भावी कार्यक्षेत्र को दृष्टिगत रखते हुए हमारी संगठन क्षमता विकसित हो। तीसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व था स्वतंत्रता संग्राम में एक स्वयंसेवी सैनिक की भूमिका निभाना। देखा जाए तो सभी दायित्व शैली एवं स्वरूप की दृष्टि से परस्पर विरोधी थे, किंतु साधना एवं स्वाध्याय की प्रगति में इनमें से कोई बाधक नहीं बने, जबकि इस बीच हमें दो बार हिमालय भी जाना पड़ा। अपितु सभी साथ–साथ सहज ही ऐसे संपन्न होते चले गए कि हमें स्वयं इनके क्रियान्वयन पर अब आश्चर्य होता है। इसका श्रेय उस दैवी मार्गदर्शक सत्ता को जाता है, जिसने हमारे जीवन की बागडोर प्रारंभ से ही अपने हाथों में ले ली थी एवं सतत् संरक्षण का आश्वासन दिया।

ऋषि दृष्टिकोण की दीक्षा जिस दिन मिली, उसी दिन यह भी कह दिया गया कि यह परिवार संबद्ध तो है, पर विजातीय द्रव्य की तरह है, बचने योग्य। इसके तर्क, प्रमाणों की ओर से कान बंद किए रहना ही उचित होगा। इसलिए सुननी तो सबकी चाहिए, पर करनी मन की ही चाहिए। उनके परामर्श को, आग्रह को वजन या महत्व दिया गया और उन्हें स्वीकारने

का मन बनाया गया, तो फिर लक्ष्य तक पहुँचना कठिन नहीं रहा। श्रेय और प्रेय की दोनों दिशाएँ एक दूसरे के प्रतिकूल जाती हैं। दोनों में से एक ही अपनाई जा सकी है। संसार प्रसन्न होगा, तो आत्मा रूठेगी। आत्मा को संतुष्ट किया जाएगा, तो संसार की, निकटस्थों की नाराजगी सहन करनी पड़ेगी। आमतौर से यही होता रहेगा। कदाचित् ही कभी कहीं ऐसे सौभाग्य बने हैं, जब संबंधियों ने आदर्शवादिता अपनाने का अनुमोदन दिया हो। आत्मा को तो अनेक बार संसार के सामने झुकना पड़ा है। ऊँचे निश्चय बदलने पड़े हैं और पुराने ढर्रे पर आना पड़ा है।

यह कठिनाई अपने सामने पहले दिन से ही आई। वसंत पर्व को जिस दिन नया जन्म मिला, उसी दिन नया कार्यक्रम भी। पुरश्चरणों की शृंखला के साथ–साथ आहार–विहार के तपस्वी स्तर के अनुबंध भी। तहलका मचा, जिसने सुना अपने–अपने ढंग से समझाने लगा। मीठे और कड़वे शब्दों की वर्षा होने लगी। मंतव्य एक ही था कि जिस तरह सामान्य जन जीवनयापन करते हैं, कमाते–खाते हैं, वही राह उचित है। ऐसे कदम न उठाए जाएँ जिनसे इन दोनों में व्यवधान पड़ता हो। यद्यपि पैतृक संपदा इतनी थी कि उसके सहारे तीन पीढ़ी तक घर बैठकर गुजारा हो सकता था, पर उस तर्क को कोई सुनने तक को तैयार नहीं हुआ। नया कमाओ, नया खाओ, जो पुराना है, उसे भविष्य के लिए, कुटुंबियों के लिए जमा रखो। सब लोग अपने–अपने शब्दों में एक ही बात कहते थे। अपना मुँह एक और सामने वाले के सौ। किस–किस को कहाँ तक जबाब दिया जाए? अंत में हारकर गाँधीजी के तीन गुरुओं में से एक को अपना गुरु बना ही लिया। मौन रहने से राहत मिली। ''भगवान् की प्रेरणा'', कह देने से थोड़ा काम चल पाता, क्योंकि उसे काटने के लिए उन सबके पास बहुत पैने तर्क नहीं थे। नास्तिकवाद तक उतर आने या अंतःप्रेरणा का खंडन करने लायक तर्क उनमें किसी ने नहीं सीखे, समझे थे। इसलिए बात ठंडी पड़ गई। मैंने अपना संकल्पित व्रत इस प्रकार चालू कर दिया मानों किसी को जबाव देना ही नहीं था। किसी का परामर्श लेना ही नहीं था। अब सोचता हूँ कि उतनी दृढ़ता न अपनाई गई होती,

तो नाव दो–चार झकझोरे खाने के उपरांत ही डूब जाती। जिस साधना बल के सहारे आज अपना और दूसरों का कुछ भला बन पड़ा, उसका सुयोग ही नहीं आता। ईश्वर के साथ वह नाता जुड़ता ही नहीं, जो पवित्रता और प्रखरता से कम में जड़ें जमाने की स्थिति में होता ही नहीं।

इसके बाद दूसरी परीक्षा बचपन में ही तब सामने आई जब कांग्रेस का असहयोग आंदोलन प्रारंभ हुआ। गाँधीजी ने सत्याग्रह आंदोलन का बिगुल बजाया। देश–भक्तों का आह्वान किया और जेल जाने और गोली खाने के लिए घर से निकल पड़ने के लिए कहा।

मैंने अंतरात्मा की पुकार सुनी और समझा कि यह ऐतिहासिक अवसर है। इसे किसी भी कारण चुकाया नहीं जाना चाहिए। मुझे सत्याग्रहियों की सेना में भर्ती होना ही चाहिए। अपनी मर्जी से उस क्षेत्र के भर्ती केंद्र में नाम लिखा दिया। साधन संपन्न घर छोड़कर नमक सत्याग्रह के लिए निर्धारित मोर्चे पर जाना था। उन दिनों गोली चलने की चर्चा बहुत जोरों पर थी। लंबी सजाएँ–काला पानी होने की भी। ऐसी अफवाहें सरकारी पक्ष के, किराए के प्रचारक जोरों से फैला रहे थे, ताकि कोई सत्याग्रही बने नहीं। घर वाले उसकी पूरी–पूरी रोकथाम करें। मेरे संबंध में भी यही हुआ। समाचार विदित होने पर मित्र, पड़ौसी, कुटुंबी, संबंधी एक भी न बचा जो इस विपत्ति से बचाने के लिए जोर लगाने के लिए न आया हो। उनकी दृष्टि से यह आत्म–हत्या जैसा प्रयास था।

बात बढ़ते–बढ़ते जवाबी आक्रमण की आई। किसी ने अनशन की धमकी दी, तो किसी ने आत्म–हत्या की। हमारी माता जी अभिभावक थीं। उन्हें यह पट्टी पढ़ाई गई कि लाखों की पैतृक संपत्ति से वे मेरा नाम खारिज कराकर अन्य भाइयों के नाम कर देंगी। भाइयों ने कहा कि घर से कोई रिश्ता न रहेगा और उसमें प्रवेश भी न मिलेगा। इसके अतिरिक्त भी और कई प्रकार की धमकियाँ दीं। उठाकर ले जाया जाएगा और डाकुओं के नियंत्रण में रहने के लिए बाधित कर दिया जाएगा।

इन मीठी–कड़वी धमकियों को मैं शांतिपूर्वक सुनता

रहा। अंतरात्मा के सामने एक ही प्रश्न रहा कि समय की पुकार बड़ी है या परिवार का दबाव। अंतरात्मा की प्रेरणा बड़ी है या मन को इधर–उधर डुलाने वाले असमंजस की स्थिति। अंतिम निर्णय किससे कराता? आत्मा और परमात्मा दो को ही साक्षी बनाकर और उनके निर्णय को ही अंतिम मानने का फैसला किया।

इस संदर्भ में प्रहलाद का फिल्म चित्र आँखों के आगे तैरने लगा। वह समाप्त न होने पाया था कि ध्रुव की कहानी मस्तिष्क में तैरने लगी। इसका अंत न होने पाया कि पार्वती का निश्चय उछलकर आगे आ गया। इस आरंभ के उपरांत महामानवों की, वीर बलिदानियों की, संत, सुधारक और शहीदों की अगणित गाथाएँ सामने तैरने लगीं। उनमें से किसी के भी घर–परिवार वालों ने, मित्र–संबंधियों ने समर्थन नहीं किया था। वे अपने एकाकी आत्मबल के सहारे कर्त्तव्य की पुकार पर आरूढ़ हुए और दृढ़ रहे। फिर यह सोचना व्यर्थ है कि इस समय अपने इर्द–गिर्द के लोग क्या करते और क्या कहते हैं? उनकी बात सुनने से आदर्श नहीं निभेंगे। आदर्श निभाने हैं, तो अपने मन की ललक, लिप्साओं से जूझना पड़ेगा। इतना ही नहीं इर्द–गिर्द जुड़े हुए उन लोगों की भी उपेक्षा करनी पड़ेगी, जो मात्र पेट–प्रजनन के कुचक्र में ही घूमते और घुमाते रहे हैं।

निर्णय आत्मा के पक्ष में गया। मैं अनेक विरोध और प्रतिबंधों को तोड़ता, लुक–छिपकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा और सत्याग्रही की भूमिका निभाता हुआ जेल चला गया। जो भय का काल्पनिक आतंक बनाया गया था, उसमें से एक भी चरितार्थ नहीं हुआ।

छुटपन की एक घटना इन दोनों प्रयोजनों में और भी साहस देती रही। गाँव में एक बुढ़िया मेहतरानी घावों से पीड़ित थी। दस्त भी हो रहे थे। घावों में कीड़े पड़ गए थे। बेतरह चिल्लाती थी, पर कोई छूत के कारण उसके घर में घुसता न था। मैंने एक चिकित्सक से उपचार पूछा। दवाओं का एकाकी प्रबंध किया, उसके घर नियमित रूप से जाने लगा। चिकित्सा के लिए भी परिचर्या के लिए भी, भोजन व्यवस्था के लिए भी।

यह सारे काम मैंने अपने जिम्मे ले लिए। मेहतरानी के घर में घुसना, उसके मल–मूत्र से सने कपड़े धोना आज से ६५ वर्ष पूर्व गुनाह था। जाति बहिष्कार कर दिया गया। घर वालों तक ने प्रवेश न करने दिया। चबूतरे पर पड़ा रहता और जो कुछ घर वाले दे जाते, उसी को खाकर गुजारा करता। इतने पर भी मेहतरानी की सेवा नहीं छोड़ी। यह पंद्रह दिन चली और वह अच्छी हो गई। वह जब तक जीवित रही, मुझे भगवान् कहती रही। उन दिनों १३ वर्ष की आयु में भी अकेला था। सारा घर और सारा गाँव एक ओर। लड़ता रहा, हारा नहीं। अब तो उम्र कई वर्ष और अधिक बड़ी हो गई थी। अब क्यों हारता?

स्वतंत्रता संग्राम की कई बार जेलयात्रा, २४ महापुरश्चरणों का व्रत धारण, इसके साथ ही मेहतरानी की सेवा–साधना यह तीन परीक्षाएँ, मुझे छोटी उम्र में ही पास करनी पड़ीं। आंतरिक दुर्बलताएँ और संबद्ध परिजनों के दुहरे मोर्चे पर एक साथ लड़ा। उस आत्म–विजय का ही परिणाम है कि आत्मबल संग्रह से अधिक लाभ से लाभान्वित होने का अवसर मिला। उन घटनाक्रमों से हमारा आपा बलिष्ठ होता चला गया एवं वे सभी कार्यक्रम हमारे द्वारा बखूबी निभते चले गए, जिनका हमें संकल्प दिलाया गया था।

महापुरश्चरणों की श्रृंखला नियमित रूप से चलती रही। जिस दिन गुरुदेव के आदेश से उस साधना का शुभारंभ किया था, उसी दिन घृत दीप की अखंड ज्योति भी स्थापित की। उसकी जिम्मेदारी हमारी धर्मपत्नी ने संभाली, जिन्हें हम भी माता जी के नाम से पुकारते हैं। छोटे बच्चे की तरह उस पर हर घड़ी ध्यान रखे जाने की आवश्यकता पड़ती थी। अन्यथा वह बच्चे की तरह मचल सकता था, बुझ सकता था। वह अखंड दीपक इतने लंबे समय से बिना किसी व्यवधान के अब तक नियमित जलता रहा है। इसके प्रकाश में बैठकर जब भी साधना करते हैं, तो मनःक्षेत्र में अनायास ही दिव्य भावनाएँ उठती रहती हैं। कभी किसी उलझन को सुलझाना अपनी सामान्य बुद्धि के लिए संभव नहीं होता, तो इस अखंड ज्योति की प्रकाश किरण अनायास ही उस उलझन को सुलझा देती है।

नित्य ६६ माला का जप, गायत्री माता के चित्र प्रतीक का धूप, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प, जल से पूजन। जप के साथ–साथ प्रातःकाल के उदीयमान सविता देवता का ध्यान। अंत में सूर्यार्घ्यदान। इतनी छोटी सी विधि व्यवस्था अपनाई गई। उसके साथ बीज–मंत्र का संपुट आदि का कोई तांत्रिक विधि–विधान जोड़ा नहीं गया, किंतु श्रद्धा अटूट रही। सामने विद्यमान गायत्री माता के चित्र के प्रति असीम श्रद्धा उमड़ती रही। लगता रहा कि वे साक्षात सामने बैठी हैं। कभी–कभी उनके आंचल में मुँह छिपाकर प्रेमाश्रु बहाने के लिए मन उमड़ता। ऐसा नहीं हुआ कि मन न लगा हो। कहीं अन्यत्र भागा हो। तन्मयता निरंतर प्रगाढ़ स्तर की बनी रही। समय पूरा हो जाता, तो अलग अलार्म बजता। अन्यथा उठने को जी ही नहीं करता। उपासना क्रम में कभी एक दिन भी विघ्न न आया।

यही बात अध्ययन के संबंध में रही। उसके लिए अतिरिक्त समय न निकालना पड़ा। काँग्रेस कार्यों के लिए प्रायः काफी–काफी दूर चलना पड़ता। जब परामर्श या कार्यक्रम का समय आता, तब पढ़ना बंद हो जाता, जहाँ चलना आरंभ हुआ, वहीं पढ़ना भी आरंभ हो गया। पुस्तक साइज के चालीस पन्ने प्रति घंटे पढ़ने की स्पीड रही। कम से कम दो घंटे नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी–कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घंटे में ८० पृष्ठ। महीने में २४०० पृष्ठ। साल भर में २८००० पृष्ठ। साठ वर्ष की कुछ अवधि में साढ़े अट्ठारह लाख पृष्ठ हमने मात्र अपनी अभिरुचि के पढ़े हैं। लगभग तीन हजार पृष्ठ नित्य विहंगम रूप से पढ़ लेने की बात भी हमारे लिए स्नान भोजन की तरह आसान व सहज रही है। यह क्रम प्रायः ६० वर्ष से अधिक समय से चलता आ रहा है और इतने दिन में अनगिनत पृष्ठ उन पुस्तकों के पढ़ डाले जो हमारे लिए आवश्यक विषयों से संबंधित थे। महापुरश्चरणों की समाप्ति के बाद समय अधिक मिलने लगा। तब हमने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर ग्रंथों–पांडुलिपियों का अध्ययन किया। वह हमारे लिए अमूल्य निधि बन गई।

मनोरंजन के लिए एक पन्ना भी कभी नहीं पढ़ा है।

अपने विषय में मानों प्रवीणता की उपाधि प्राप्त करनी हो–ऐसी तन्मयता से पढ़ा है। इसलिए पढ़े हुए विषय मस्तिष्क में एकीभूत हो गए। जब भी कोई लेख लिखते थे, या पूर्व वार्तालाप में किसी गंभीर विषय पर चर्चा करते थे, तो पढ़े हुए विषय अनायास ही स्मरण हो आते थे। लोग पीठ पीछे कहते हैं–"यह तो चलता फिरता एनसाइक्लोपीडिया है।" अखंड ज्योति पत्रिका के लेख पढ़ने वाले उसमें इतने संदर्भ पाते हैं कि लोग आश्चर्यचकित होकर रह जाते हैं और सोचते हैं कि एक लेख के लिए न जाने कितनी पुस्तकों और पत्रिकाओं से सामग्री इकट्ठी करके लिखा गया है। यही बात युग निर्माण योजना, युग शक्ति पत्रिका के बारे में है, पर सच बात इतनी ही है कि हमने जो भी पढ़ा है, उपयोगी पढ़ा है और पूरा मन लगाकर पढ़ा है। इसलिए समय पर सारे संदर्भ अनायास ही स्मृति पटल पर उठ आते हैं। यह वस्तुतः हमारी तन्मयता से की गई साधना का चमत्कार है।

जन्मभूमि के गाँव में प्राथमिक पाठशाला थी। सरकारी स्कूल की दृष्टि से इतना ही पढ़ा है। संस्कृत हमारी वंश परंपरा में घुसी हुई है। पिताजी संस्कृत के असाधारण प्रकांड विद्वान थे। भाई भी। सबकी रुचि भी उसी ओर थी। फिर हमारा पैतृक व्यवसाय पुराणों की कथा कहना तथा पौरोहित्य रहा है, सो उस कारण उसका भी समुचित ज्ञान हो गया। आचार्य तक के विद्यार्थियों को हमने पढ़ाया है, जबकि हमारी स्वयं की डिग्रीधारी योग्यता नहीं थी।

इसके बाद अन्य भाषाओं के पढ़ने की कहानी मनोरंजक है। जेल में लोहे के तसले पर कंकड़ की पेंसिल से अँग्रेजी लिखना प्रारंभ किया। एक दैनिक अंक "लीडर" अखबार का जेल में हाथ लग गया था। उसी से पढ़ना शुरू किया। साथियों से पूछताछ कर लेते, इस प्रकार एक वर्ष बाद जब जेल से छूटे, तो अँग्रेजी की अच्छी–खासी योग्यता उपलब्ध हो गई। आपसी चर्चा से हर बार की जेलयात्रा में अँग्रेजी का शब्दकोश हमारा बढ़ता ही चला गया एवं क्रमशः व्याकरण भी सीख ली। बदले में हमने उन्हें संस्कृत एवं मुहावरों वाली हिंदुस्तानी भाषा सिखा

दी। अन्य भाषाओं की पत्रिकाएँ तथा शब्दकोश अपने आधार रहे हैं और ऐसे ही रास्ता चलते अन्यान्य भाषाएँ पढ़ ली हैं। गायत्री को बुद्धि की देवी कहा जाता है। दूसरों को वैसा लाभ मिला या नहीं, पर हमारे लिए यह चमत्कारी लाभ प्रत्यक्ष है। अखंड–ज्योति की संस्कृतनिष्ठ हिंदी ने हिंदी प्राध्यापकों तक का मार्गदर्शन किया है। यह हम जब देखते हैं,, तो उस महाप्रज्ञा को ही इसका श्रेय देते हैं। अति व्यस्तता रहने पर भी विज्ञ की ज्ञान की विभूति इतनी मात्रा में हस्तगत हो गई, जिसमें हमें परिपूर्ण संतोष होता है और दूसरों को आश्चर्य।

गुरुदेव का आदेश पालन करने के लिए हमने काँग्रेस के सत्याग्रह आंदोलन में भाग तो लिया, पर प्रारंभ में असमंजस ही बना रहा कि जब चौबीस वर्ष का एक संकल्प दिया गया था, तो ५ और १९ वर्ष के दो टुकड़ों में क्यों विभाजित किया। फिर आंदोलन में तो हजारों स्वयं सेवक संलग्न थे, तो एक की कमी वेशी से उसमें क्या बनता–बिगड़ता था?

हमारे असमंजस को साक्षात्कार के समय ही गुरुदेव ने ताड़ लिया था। जब बारी आई तो उनकी परावाणी से मार्गदर्शन मिला कि ''युग धर्म की अपनी महत्ता है। उसे समय की पुकार समझ कर अन्य आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर उसी प्रकार दौड़ पड़ना चाहिए जैसे अग्निकांड होने पर पानी लेकर दौड़ना पड़ता है और अन्य सभी आवश्यक काम छोड़ने पड़ते हैं।'' आगे संदेश मिला कि '' अगले दिनों तुम्हें जन संपर्क के अनेक काम करने हैं, उनके लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों से संपर्क साधने और निपटने का दूसरा कोई अवसर नहीं आने वाला है। यह उस उद्देश्य की पूर्ति का एक चरण है, जिसमें भविष्य में बहुत सा श्रम व समय लगाना है। आरंभिक दिनों में, जो पाठ पढ़े थे, पूर्वजन्मों में जिनका अभ्यास किया था, उनके रिहर्सल का अवसर भी मिल जाएगा। यह सभी कार्य निजी लाभ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय की माँग तो इसी से पूरी होती है।''

व्यावहारिक जीवन में तुम्हें चार पाठ पढ़ाए जाने हैं। १–समझदारी, २–ईमानदारी, ३–जिम्मेदारी, ४–बहादुरी। इनके सहारे ही व्यक्तित्व में खरापन आता है और प्रतिभा पराक्रम

विकसित होता है। हथियार भोथरें तो नहीं पड़ गए, कहीं पुराने पाठ विस्मृत तो नहीं हो गए, इसकी जाँच पड़ताल नए सिरे से हो जाएगी। इस दृष्टि से एवं भावी क्रिया पद्धति के सूत्रों को समझने के लिए तुम्हारा स्वतंत्रता संग्राम अनुष्ठान भी जरूरी है।

देश के लिए हमने क्या किया कितने कष्ट सहे, सौंपे गए कार्यों को कितनी खूबी से निभाया इसकी चर्चा यहाँ करना सर्वथा अप्रासंगिक होगा। उसे जानने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो परिजन–पाठक उत्तरप्रदेश सरकार के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित "आगरा संभाग के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी" पुस्तक पढ़ें। उसमें अनेक महत्वपूर्ण कार्यों के साथ हमारा उल्लेख हुआ है। "श्रीराम मत्त हमारा उन दिनों का प्रचलित नाम है। यहाँ तो केवल यह ध्यान में रखना है कि हमारे हित में मार्ग दर्शक ने किस हित का ख्याल मन में रखकर यह आदेश दिया।"

इन दस वर्षों में जेलों में तथा जेल से बाहर अनेक प्रकृति के लोगों से मिलना हुआ। स्वतंत्रता संग्राम के समय में जन–जागृति चरम सीमा पर थी। शूरवीर, साहस के धनी, संकल्प बल वाले अनेकों ऐसे व्यक्ति संपर्क में आए, जिनसे हमने बहुत कुछ सीखा। जनसमुदाय को लाभान्वित करने और नैतिक क्रांति जैसे बड़े कार्य के लिए अपना प्रशंसक, समर्थक, सहयोगी बनाने हेतु किन रीति–नीतियों को अपनाना चाहिए, यह मात्र दो वर्षों में ही सीखने को मिल गया। इसके लिए वैसी पूरी जिंदगी गुजार देने पर यह सुयोग उपलब्ध नहीं होता। विचित्र प्रकार की विचित्र प्रकृतियों का अध्ययन करने का इतना अवसर मिला, जितना देश के अधिकाँश भाग का परिभ्रमण करने पर मिल पाता। हमारे मन में घर–गृहस्थी अपने पराए का मोह छूट गया और उन विपन्न परिस्थितियों में भी इतनी प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीया कि अपने आपे की मजबूती पर विश्वास होता चला गया। सबसे बड़ी बात यह कि हमारा स्वभाव स्वय सेवक की तरह ढलता चला गया, जो अभी भी हमें इस चरमावस्था में पहुँचने पर भी विनम्र बनाए हुए है। हमारे असमंजस

का समाधान उन दिनों गुजरे स्वतंत्रता संग्राम के प्रसंगों से हो गया कि क्यों हमसे अनुष्ठान दो भागों में कराया गया।

कांग्रेस की स्थापना की एक शताब्दी होने को चली है, जिसमें हमने काम किया, वह अलग थी। उसमें काम करने के हमारे अपने विलक्षण अनुभव रहे हैं। अनेक मूर्धन्य प्रतिभाओं से संपर्क साधने के अवसर अनायास ही आते रहे हैं। सदा विनम्र और अनुशासनरत स्वयं सेवक की अपनी हैसियत रखी। इसलिए मूर्धन्य नेताओं की सेवा में किसी विनम्र स्वयं सेवक की जरूरत पड़ती, तो हमें ही पेल दिया जाता रहा। आयु भी इसी योग्य थी। इसी संपर्क में हमने बड़ी से बड़ी विशेषताएँ सीखीं। अवसर मिला तो उनके साथ भी रहने का सुयोग मिला, साबरमती आश्रम में गाँधी जी के साथ और पवनार आश्रम में विनोबा के साथ रहने का लाभ मिला है। दूसरे उनके समीप जाते हुए दर्शन मात्र करते हैं या रहकर लौट आते हैं जब कि हमने इन संपर्कों में बहुत कुछ पढ़ा और जाना है। इन सबकी स्मृतियों का उल्लेख करना तो यहाँ अप्रासंगिक होगा, पर कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जो हमारे लिए कल्पवृक्ष की तरह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं।

सन् १९३३ की बात है। कलकत्ता में इंडियन नेशनल काँग्रेस का अधिवेशन था। उन दिनों काँग्रेस गैर कानूनी थी, जो भी जाते, पकड़े जाते, गोली कांड भी हुआ। जिन्हें महत्त्वपूर्ण समझा गया, उन्हें बर्दवान स्टेशन पर पकड़ लिया गया और ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में बनी गोरों के लिए बनाई गई एक विशेष जेल (आसनसोल) में भेज दिया गया। इसमें हम भी आगरा जिले के अपने तीन साथियों के साथ पकड़े गए। यहाँ हमारे साथ में मदनमोहन मालवीय जी के अलावा गाँधीजी के सुपुत्र देवीदास गाँधी, श्री जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूप रानी नेहरू, रफी अहमद किदवई, चंद्रभान गुप्ता, कन्हैयालाल खादी वाला, जगन प्रसाद रावत आदि मूर्धन्य लोग थे। वहाँ जब तक हम लोग रहे, सायंकाल महामना मालवीय जी का नित्य भाषण होता था। मालवीय जी व माता स्वरूपरानी सबके साथ सगे बच्चों की तरह व्यवहार करते थे। एक दिन उनने अपने व्याख्यान में इस बात पर बहुत जोर दिया कि हमें आंदोलन को

आगे बढ़ाने के लिए हर मर्द से एक पैसा और हर स्त्री से एक मुट्ठी अनाज माँग कर लाना चाहिए, ताकि सभी यह समझें कि काँग्रेस हमारी है। हमारे पैसों से बनी है। सबको इसमें अपनापन लगेगा एवं एक मुट्ठी फंड ही इसका मूल आर्थिक आधार बन जाएगा। वह बात औरों के लिए महत्त्वपूर्ण न थी, पर हमने उसे गाँठ बाँध लिया। ऋषियों का आधार यही ''भिक्षा'' थी। उसी के सहारे वे बड़े–बड़े गुरुकुल और आरण्यक चलाते थे। हमें भविष्य में बहुत बड़े काम करने के लिए गुरुदेव ने संकेत दिए थे। उनके लिए पैसा कहाँ से आएगा, इसकी चिंता मन में बनी रहती थी। इस बार जेल से सूत्र हाथ लग गया। जेल से छूटने पर जब बड़े काम पूरे का उत्तरदायित्व कंधे पर आया तब उसी फार्मूले का उपयोग किया। ''दस पैसा प्रतिदिन या एक मुट्ठी अनाज'', अंशदान के रूप में यही तरीका अपनाया और अब तक लाखों नहीं, करोड़ों रुपया खर्च करा चुके हैं।

काँग्रेस अपनी गायत्री गंगोत्री की तरह जीवनधारा रही। जब स्वराज्य मिल गया, तो हमने उन्हीं कामों की ओर ध्यान दिया जिनसे स्वराज्य की समग्रता संपन्न हो सके। राजनेताओं को देश की राजनैतिक आर्थिक स्थिति संभालनी चाहिए, पर नैतिक क्रांति, बौद्धिक क्रांति और सामाजिक क्रांति उससे भी अधिक आवश्यक है, जिसे हमारे जैसे लोग ही संपन्न कर सकते हैं। यह धर्म–तंत्र का उत्तरदायित्व है।

अपने इस नए कार्यक्रम के लिए अपने सभी गुरुजनों से आदेश लिया और काँग्रेस का एक ही कार्यक्रम अपने जिम्मे रखा ''खादी धारण।'' इसके अतिरिक्त उसके सक्रिय कार्यक्रमों से उसी दिन पीछे हट गए जिस दिन स्वराज्य मिला। इसके पीछे बापू का आशीर्वाद था, दैवी सत्ता का हमें मिला निर्देश था। प्रायः २० वर्ष लगातार काम करते रहने पर जब मित्रों ने स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते निर्वाह राशि लेने का फार्म भेजा,तो हमने हँसकर स्पष्ट मना कर दिया। हमें राजनीति में श्रीराम मत्त या मत्तजी के नाम से जाना जाता है। जो लोग जानते हैं उस समय के मूर्धन्य जो जीवित हैं उन्हें विदित है कि आचार्य जी (मत्त जी) काँग्रेस के आधार स्तंभ रहे हैं और कठिन

से कठिन कामों में अग्रिम पंक्ति में खड़े रहे हैं, किंतु जब श्रेय लेने का प्रश्न आया, उन्होंने स्पष्टतः स्वयं को पर्दे के पीछे रखा।

तीनों काम यथावत पूरी तत्परता और तन्मयता के साथ संपन्न किए और साथ ही गुरुदेव जब–जब हिमालय बुलाते रहे, तब–तब जाते रहे। बीच में दो आमंत्रणों में उनने छः–छः महीने ही रोका। कहा ''काँग्रेस का कार्य स्वतंत्रता प्राप्ति की दृष्टि से इन दिनों आवश्यक है, सो इधर तुम्हारा रुकना छः–छः महीने ही पर्याप्त होगा। उन छः महीनों में हमसे क्या कराया गया एवं क्या कहा गया, यह सर्वसाधारण के लिए जानना जरूरी नहीं है। दृश्य जीवन के ही अगणित प्रसंग ऐसे हैं, जिन्हें हम अलौकिक एवं दैवी शक्ति की कृपा का प्रसाद मानते हैं, उसे याद करते हुए कृतकृत्य होते रहते हैं।''

गुरुदेव का प्रथम बुलावा पग–पग पर परीक्षा

गुरुदेव द्वारा हिमालय बुलावे की बात मत्स्यावतार जैसी बढ़ती चली गई। पुराण की कथा है कि ब्रह्माजी के कमंडल में कहीं से एक मछली का बच्चा आ गया। हथेली में आचमन के लिए कमंडल लिया तो वह देखते–देखते हथेली भर लंबी हो गई। ब्रह्माजी ने उसे घड़े में डाल दिया, क्षर भर में वह उससे भी दूनी हो गई, तो ब्रह्माजी ने उसे पास के तालाब में डाल दिया, उसमें भी वह समाई नहीं तब उसे समुद्र तक पहुँचाया गया। देखते–देखते उसने पूरे समुद्र को आच्छादित कर लिया। तब ब्रह्मा जी को बोध हुआ। उस छोटी सी मछली में अवतार होने की बात जानी, स्तुति की और आदेश माँगा, बात पूरी होने पर मत्स्यावतार अंतर्ध्यान हो गए और जिस कार्य के लिए वे प्रकट हुए थे वह कार्य सुचारू रूप से संपन्न हो गया।

हमारे साथ भी घटना क्रम ठीक इसी प्रकार चले हैं। आध्यात्मिक जीवन वहाँ से आरंभ हुआ था, जहाँ से गुरुदेव ने परोक्ष रूप से महामना जी से गुरु दीक्षा दिलवाई थी। यज्ञोपवीत पहनाया था और गायत्री मंत्र की नियमित उपासना करने का विधि–विधान बताया था। छोटी उम्र थी, पर उसे पत्थर की लकीर की तरह माना और विधिवत् निबाहा। कोई दिन ऐसा नहीं बीता जिसमें नागा हुई हो। साधना नहीं, तो भोजन नहीं। इस सिद्धांत को अपनाया। वह आज तक ठीक चला है और विश्वास है कि जीवन के अंतिम दिन तक यह निश्चित रूप से निभेगा।

इसके बाद गुरुदेव का प्रकाश रूप से साक्षात्कार हुआ।

उनने आत्मा को ब्राह्मण बनाने के निमित्त २४ वर्ष की गायत्री पुरश्चरण साधना बताई। वह भी ठीक समय पर पूरी हुई। इस बीच में बैटरी चार्ज कराने के लिए, परीक्षा देने के लिए बार-बार हिमालय आने का आदेश मिला। साथ ही हर यात्रा में एक-एक वर्ष या उससे कम दुर्गम हिमालय में ही रहने के निर्देश भी। वह क्रम भी ठीक प्रकार चला और परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर नया उत्तरदायित्व भी कंधे पर लदा। इतना ही नहीं उसका निर्वाह करने के लिए अनुदान भी मिला, ताकि दुबला बच्चा लड़खड़ा न जाए। जहाँ गड़बड़ाने की स्थिति आई वहीं मार्गदर्शक ने गोदी में उठा लिया।

पूरा एक वर्ष होने भी न पाया था कि बेतार का तार हमारे अंतराल में हिमालय का निमंत्रण ले आया। चल पड़ने का बुलावा आ गया। उत्सुकता तो रहती थी, पर जल्दी नहीं थी। जो देखा है, उसे देखने की उत्कंठा एवं जो अनुभव हस्तगत नहीं हुआ है, उसे उपलब्ध करने की आकाँक्षा ही थी। साथ ही ऐसे मौसम में जिसमें दूसरे लोग उधर जाते नहीं, ठंड, आहार, सुनसान, हिंस्त्र जंतुओं का सामना पड़ने जैसे कई भय भी मन में उपज उठते, पर अंततः विजय प्रगति की हुई। साहस जीता। संचित कुसंस्कारों में से एक अनजाना डर भी था। यह भी था कि सुरक्षित रहा जाए और सुविधापूर्वक जिया जाए। जबकि घर की परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं दोनों के बीच कौरव पांडवों की लड़ाई जैसा महाभारत चला, पर यह सब २४ घंटे से अधिक न टिका। दूसरे दिन हम यात्रा के लिए चल दिए। परिवार को प्रयोजन की सूचना दे दी। विपरीत सलाह देने वाले भी चुप रहे। वे जानते थे कि इसके निश्चय बदलते नहीं।

कड़ी परीक्षा देना और बढ़िया वाला पुरस्कार पाना, यही सिलसिला हमारे जीवन में चलता रहा है। पुरस्कार के साथ अगला बड़ा कदम बढ़ाने का प्रोत्साहन भी। हमारे मत्स्यावतार का यही क्रम चलता आया है।

प्रथम बार हिमालय जाना हुआ, तो वह प्रथम सत्संग था। हिमालय दूर से तो पहले भी देखा था, पर वहाँ रहने पर किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, इसकी पूर्व जानकारी

कुछ भी नहीं थी। वह अनुभव प्रथम बार ही हुआ। संदेश आने पर चलने की तैयारी की। मात्र देव प्रयाग से उत्तरकाशी तक उन दिनों सड़क और मोटर की व्यवस्था थी। इसके बाद तो पूरा रास्ता पैदल का ही था, ऋषिकेश से देव प्रयाग भी पैदल यात्रा करनी होती थी। सामान कितना लेकर चलना चाहिए जो कंधे और पीठ पर लादा जा सके, इसका अनुभव न था। सो कुछ ज्यादा ही ले लिया। लादकर चलना पड़ा, तो प्रतीत हुआ कि यह भारी है। उतना हमारे जैसा पैदल यात्री लेकर न चल सकेगा। सो सामर्थ्य से बाहर की वस्तुएँ रास्ते में अन्य यात्रियों को बाँटते हुए केवल उतना रहने दिया, जो अपने से चल सकता था एवं उपयोगी था।

इस यात्रा से गुरुदेव एक ही परीक्षा लेना चाहते थे कि विपरीत परिस्थितियों से जूझने लायक मनःस्थिति पकी या नहीं। सो यात्रा अपेक्षाकृत कठिन ही होती गई। दूसरा कोई होता, तो घबरा गया होता, वापस लौट पड़ता या हैरानी में बीमार पड़ गया होता, पर गुरुदेव यह जीवन सूत्र व्यवहार में सिखाना चाहते थे कि मनःस्थिति मजबूत हो, तो परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है, उन्हें अनुकूल बनाया या सहा जा सकता है। महत्त्वपूर्ण सफलताओं के लिए आदमी को इतना ही मजबूत होना चाहिए।

ऐसा बताया जाता है कि जब धरती का स्वर्ग या हृदय कहा जाने वाला भाग देवताओं का निवास था, तब ऋषि गोमुख से नीचे और ऋषिकेश से ऊपर रहते थे, पर हिमयुग के बाद परिस्थितियाँ एकदम बदल गईं। देवताओं ने कारण शरीर धारण कर लिए और अंतरिक्ष में विचरण करने लगे। पुरातन काल के ऋषि गोमुख से ऊपर चले गए। नीचे वाला भाग हिमालय और सैलानियों के लिए रह गया है। वहाँ कहीं-कहीं साधु बाबाजी की कुटियाँ तो मिलती हैं, पर जिन्हें ऋषि कहा जा सके, ऐसों का मिलना कठिन है।

हमने भी सुन रखा था कि हिमालय की यात्रा में मार्ग में आने वाली गुफाओं में सिद्धयोगी रहते हैं। वैसा कुछ नहीं मिला। पाया कि निर्वाह एवं आजीविका की दृष्टि से वह कठिनाइयों से

भरा क्षेत्र है। इसलिए वहाँ मनमौजी लोग आते–जाते तो हैं, पर ठहरते नहीं। जो साधु–संत मिले, उनसे भेंट वार्ता होने पर विदित हुआ कि वे भी कौतूहलवश या किसी से कुछ मिल जाने की आशा में ही आते थे। न उनका तत्त्वज्ञान बढ़ा–चढ़ा था, न तपस्वियों जैसी दिनचर्या थी। थोड़ी देर पास बैठने पर वे अपनी आवश्यकता व्यक्त करते थे। ऐसे लोग दूसरों को क्या देंगे, यह सोचकर सिद्ध पुरुषों की तलाश में अन्यों द्वारा जब–तब की गईं यात्राएँ मजे की यात्राएँ भर रहीं, यही मानकर अपने कदम आगे बढ़ाते गए। यात्रियों को आध्यात्मिक संतोष समाधान तनिक भी नहीं होता होगा, यही सोचकर मन दु:खी रहा।

उनसे तो हमें चट्टियों पर दुकान लगाए हुए पहाड़ी दुकानदार अच्छे लगे। वे भोले और भले थे। आटा, दाल, चावल आदि खरीदने पर वे पकाने के बर्तन बिना किराया लिए, बिना गिने ऐसे ही उठा देते थे, माँगने–जाँचने का कोई धंधा उनका नहीं था। अक्सर चाय बेचते थे। बीड़ी, माचिस, चना, गुड़, सत्तू, आलू जैसी चीजें यात्रियों को उनसे मिल जातीं थीं। यात्री श्रद्धालु तो होते थे, पर गरीब स्तर के थे। उनके काम की चीजें ही दुकानों पर बिकती थीं। कंबल उसी क्षेत्र के बने हुए किराए पर रात काटने के लिए मिल जाते थे।

शीत ऋतु और पैदल चलना यह दोनों ही परीक्षाएँ कठिन थीं। फिर उस क्षेत्र में रहने वाले साधु–सन्यासी उन दिनों गरम इलाकों में गुजारे की व्यवस्था करने नीचे उतर आते हैं। जहाँ ठंड अधिक है, वहाँ के ग्रामवासी भी पशु चराने नीचे इलाकों में चले जाते हैं। गाँवों में झोपड़ियों में सन्नाटा रहता है। ऐसी कठिन परिस्थितियों में हमें उत्तरकाशी से नंदन वन तक की यात्रा पैदल पूरी करनी थी। हर दृष्टि से यात्रा बहुत कठिन थी।

स्थान नितांत एकाकी। ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं, वन्य पशुओं का निर्भीक विचरण, यह सभी बातें काफी कष्टकर थीं। हवा उन दिनों काफी ठंडी चलती थी। सूर्य ऊँचे पहाड़ों की छाया में छिपा रहने के कारण दस बजे के करीब दीखता है और दो बजे के करीब शिखरों के नीचे चला जाता है। शिखरों पर

तो धूप दीखती है, पर जमीन पर मध्यम स्तर का अंधेरा। रास्ते में कभी कोई भूला भटका आदमी मिलता। जिन्हें कोई अति आवश्यक काम होता, किसी की मृत्यु हो जाती, तो ही आने-जाने की आवश्यकता पड़ती। हर दृष्टि से वह क्षेत्र अपने लिए सुनसान था। सहचर के नाम पर थे, छाती से धड़कने वाला दिल या सोच विचार उठाने वाले सिर में अवस्थित मन। ऐसी दशा में लंबी यात्रा संभव है या असंभव, यह परीक्षा ली जा रही थी। हृदय ने निश्चय किया कि साँस चलनी है, उतने दिन अवश्य चलेगी। तब तक कोई मारने वाला नहीं। मस्तिष्क कहता, वृक्ष वनस्पतियों में भी तो जीवन है। उन पर पक्षी रहते हैं। पानी में जलचर मौजूद हैं। जंगल में वन्य पशु फिरते हैं। सभी नंगे बदन, सभी एकाकी। जब इतने सारे प्राणी इस क्षेत्र में निवास करते हैं, तो तुम्हारे लिए सब कुछ सुनसान कैसे? अपने को छोटा मत बनाओ। जब ''बसुधैव कुटुम्बकम्'' की बात मानते हो, तब इतने सारे प्राणियों के रहते, तुम अकेले कैसे? मनुष्यों को ही क्यों प्राणी मानते हो? यह जीव-जंतु क्या तुम्हारे अपने नहीं? फिर सूनापन कैसा?

हमारी यात्रा चलती रही। साथ-साथ चिंतन भी चलता रहा। एकाकी रहने में मन पर दबाव पड़ता है। क्योंकि वह सदा समूह में रहने का अभ्यासी है। एकाकीपन से उसे डर लगता है। अंधेरा भी डर का एक बड़ा कारण है। मनुष्य दिन भर प्रकाश में रहता है। रात्रि को बत्तियों का प्रकाश जला लेता है। जब नींद आती है, तब बिल्कुल अंधेरा होता है। उसमें भी डर उतना कारण नहीं जितना कि सुनसान अंधेरे में होता है।

एकाकीपन में विशेषतया मनुष्य के मस्तिष्क को डर लगता है। योगी को इस डर से निवृत्ति पानी चाहिए। ''अभय'' को अध्यात्म का अति महत्वपूर्ण गुण माना गया है। वह छूटे, तो फिर उसे गृहस्थ की तरह सरंजाम जुटाकर सुरक्षा का प्रबंध करते हुए रहना पड़ता है। मन की कच्चाई बनी रहती है।

दूसरा संकट हिमालय क्षेत्र के एकाकीपन में यह है कि उस क्षेत्र में वन्य जीवों, विशेषतया हिंस्र पशुओं का डर लगता है। कोलाहल रहित क्षेत्र में ही वे विचरण करते हैं। रात्रि ही

उनका भोजन तलाशने का समय है। दिन में प्रतिरोध का सामना करने का डर उन्हें भी रहता है।

रात्रि में, एकाकी, अंधेरे में हिंस्र पशुओं का मुकाबला होना एक संकट है। संकट क्या सीधी मौत से मुठभेड़ है। कोलाहल और भीड़ न होने हिंस्र पशु दिन में भी पानी पीने या शिकार तलाशने निकल पड़ते हैं। इन सभी परिस्थितियों का सामना हमें अपनी यात्रा में बराबर करना पड़ा।

यात्रा में जहाँ भी रात्रि बितानी पड़ी, वहाँ काले साँप रेंगते और मोटे अजगर फुफकारते बराबर मिलते रहे। छोटी जाति का सिंह उस क्षेत्र में अधिक होता है। उसमें फुर्ती बबर शेर की तुलना में अधिक होती है। आकार के हिसाब से ताकत उसमें कम होती है। इसलिए छोटे जानवरों पर हाथ डालता है, शाकाहारियों में आक्रमणकारी पहाड़ी रीछ होता है। शिवालिक की पहाड़ियों एवं हिमालय के निचले इलाके में इर्द–गिर्द जंगली हाथी भी रहते हैं। इन सभी की प्रकृति यह होती है कि आँखों से आँखें न मिलें, उन्हें छेड़े जाने का भय न हो, तो अपने रास्ते ही चले जाते हैं। अन्यथा तनिक भी भय या क्रोध का भाव मन में आने पर वे आक्रमण कर बैठते हैं।

अजगर, सर्प, बड़ी छिपकली (गोह), रीछ, तेंदुए, चीते, हाथी इनसे आए दिन यात्रियों को कई–कई बार पाला पड़ता है। समूह को देखकर वे रास्ता बचाकर निकल जाते हैं, पर जब कोई मनुष्य या पशु अकेला सामने से आता है, तो वे बचते नहीं। सीधे रास्ते चलते जाते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य को ही उनके लिए रास्ता छोड़ना पड़ता है। अन्यथा मुठभेड़ होने पर आक्रमण एक प्रकार से निश्चित ही समझना चाहिए।

ऐसा आमना–सामना–मुकाबला दिन और रात में मिलाकर दस से बीस बार हो जाता था। अकेला आदमी देखकर वे निर्भय होकर चलते थे और रास्ता नहीं छोड़ते थे। उनके लिए हमें ही रास्ता छोड़ना पड़ता था। यह घटनाक्रम लिखने और पढ़ने में तो सरल है, पर व्यवहार में ऐसा वास्ता पड़ना अति कठिन है। कारण कि वे साक्षात मृत्यु के रूप में सामने आते थे, कभी–कभी साथ चलते या पीछे–पीछे चलते थे। शरीर को

मौत सबसे डरावनी लगती है। हिंस्र पशु अथवा जिनकी आक्रमणकारी प्रकृति होती है, ऐसे जंगली नर–नील गाय भी आक्रमणकारी होते हैं। भले ही वे आक्रमण न करें, पर डर इतना लगता है कि साक्षात मौत की घड़ी ही आ गई। जब तब कोई वास्ता पड़े, तो एक बात भी है, पर प्रायः हर घंटे में एक बार मौत से भेंट और हर बार प्राण जाने का डर लगना, अत्यधिक कठिन परिस्थितियों का सामना करने की बात थी। दिल धड़कना आरंभ होता। जब तक वह धड़कन बंद न हो पाती, तब तक दूसरी नई मुसीबत सामने आ जाती और फिर नए सिरे से दिल धड़कने लगता। वे लोग एकाकी नहीं होते थे। कई–कई के झुंड सामने आ जाते। यदि हमला करते तो एक–एक बोटी नोंच ले जाते एवं कुछ ही क्षणों में अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

किंतु यहाँ भी विवेक समेटना पड़ा, साहस संजोना पड़ा। मौत बड़ी होती है, पर जीवन से बड़ी नहीं। अभय और मैत्री भीतर हो तो हिंसकों की हिंसा भी ठंडी पड़ जाती है और अपना स्वभाव बदल जाती है। पूरी यात्रा में प्रायः तीन चार सौ की संख्या में ऐसे डरावने मुकाबले हुए, पर गड़बड़ाने वाले साहस को हर बार संभालना पड़ा। मैत्री और निश्चिंतता की मुद्रा बनानी पड़ी। मृत्यु के संबंध में सोचना पड़ा कि उसका भी एक समय होता है। यदि वहीं–इसी प्रकार जीवन की इतिश्री होनी है, तो फिर उसका डरते हुए क्यों? हँसते हुए ही सामना क्यों न किया जाए? यह विचार उठे तो नहीं, बल पूर्वक उठाने पड़े। पूरा रास्ता डरावना था। एकाकीपन, अंधेरे और मृत्यु के दूत मिल–जुलकर डराने का प्रयत्न करते रहे और वापस लौट चलने की सलाह देते रहे, पर संकल्प शक्ति साथ देती रही और यात्रा आगे बढ़ती रही।

परीक्षा का एक प्रश्न–पत्र यह था कि सुनसान का–अकेलेपन का डर लगता है क्या? कुछ ही दिनों में दिल मजबूत हो गया और उस क्षेत्र में रहने वाले प्राणी अपने लगने लगे। डर न जाने कहाँ चला गया। सूनापन सुहाने लगा, मन ने कहा–प्रथम–पत्र में उत्तीर्ण होने का सिलसिला चल पड़ा। आगे बढ़ने

पर असमंजस होता है, वह भी अब न रहेगा।

दूसरा प्रश्न पत्र था, शीत ऋतु का। सोचा कि जब मुँह, नाक, आँखें, सिर, कान, हाथ खुले रहते हैं, अभ्यास से इन्हें शीत नहीं लगता, तो तुम्हें भी क्यों लगना चाहिए। उत्तरी ध्रुव, नार्वे, फिनलैंड में हमेशा शून्य से नीचे तापमान रहता है। वहाँ एस्किमों तथा दूसरी जाति के लोग रहते हैं, तो इधर तो दस बारह हजार फुट की ही ऊँचाई है। यहाँ ठंड से बचने के उपाय ढूँढ़े जा सकते हैं। वे उधर के निवासी से मालूम भी हो गए। पहाड़ ऊपर ठंडे रहते हैं, पर उनमें जो गुफाएँ पाई जाती हैं, वे अपेक्षाकृत गरम होती हैं। कुछ खास किस्म की झाड़िया ऐसी होती हैं, जो हरी होने पर भी जल जाती हैं। लाँगड़ा, मार्चा आदि शाकों की पत्तियाँ जंगलों में उगी होती हैं, वे कच्ची खाई जा सकती हैं। भोजपत्र के तने पर उठी हुई गाँठों को उबाल लिया जाए, तो ऐसी चाय बन जाती है कि , जिनसे ठंड दूर हो सके। पेट में घुटने और सिर लगाकर उँकडू बैठ जाने पर भी ठंडक कम लगती है। मानने पर ठंड अधिक लगती है। बच्चे थोड़े से कपड़ों में कहीं भी भागे–भागे फिरते हैं। उन्हें कोई हैरानी नहीं होती। ठंड मानने भर की होती है। उसमें अनभ्यस्त बूढ़े बीमारों की तो नहीं कहते, अन्यथा जवान आदमी ठंडक से नहीं मर सकता है। बात यह भी समझ में आ गई और इन सब उपायों को अपना लेने पर ठंडक भी सहन होने लगी। फिर एक और बात है कि ठंडक–ठंडक रटने की अपेक्षा मन में कोई और उत्साह भरा चिंतन बिठा लिया जाए, तो भी काम चल जाता है। इतनी महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं से उस क्षेत्र की समस्याओं का सानना करने के हल निकल आए।

बात वन्य पशुओं की–हिंस्र जंतुओं की रह गई। वे प्रायः रात को ही निकलते हैं, उनकी आँखें चमकती हैं। फिर मनुष्य से सभी डरते हैं, शेर भी। यदि स्वयं उनसे न डरा जाए, उन्हें छेंड़ा न जाए, तो मनुष्य पर आक्रमण नहीं करते, उनके मित्र ही बनकर रहते हैं।

प्रारंभ में हमें इस प्रकार का डर लगता था। फिर सरकस के सिखाने वालों की बात याद आई। वे उन्हें कितने

करतब सिखा लेते हैं। तंजानियाँ की एक यूरोपियन महिला का वृतांत पढ़ा था ''बॉर्न फ्री'' जिसका पति वन विभाग का कर्मचारी था। उसकी स्त्री ने पति द्वारा माँ-बाप से बिछुड़े दो शेर के बच्चे पाल रखे थे, और वे जवान हो जाने पर भी गोद में सोते रहते थे। अपने मन में वजनदार निर्भयता या प्रेम भावना हो तो घने जंगलों में आनंद से रहा जा सकता है। वनवासी भील लोग अक्सर उसी क्षेत्र में रहते हैं। उन्हें न डर लगता है और न जोखिम दीखता है। ऐसे उदाहरणों को स्मृति में रखते-रखते निर्भयता आ गई और विचारा कि एक दिन वह आएगा, जब हम वन में कुटी बनाकर रहेंगे और गाय, शेर एक घाट पर पानी पिया करेंगे।

मन कमजोर भी है और मना लिए जाने पर समर्थ भी। हमने उस क्षेत्र में पहुँचकर यात्रा जारी रखी और मन में से भय को निकाल दिया। अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा करने के स्थान पर मनःस्थिति को मजबूत बनाने की बात सोची। इस दिशा में मन को ढालते चले गए और प्रतिकूलताएँ जो अरंभ में बड़ी डरावनी लगतीं थीं, अब बिलकुल सरल और स्वाभाविक सी लगने लगीं।

मन की कुटाई-पिटाई और ढलाई करते-करते वह बीस दिन की यात्रा में काबू में आ गया। वह क्षेत्र ऐसा लगने लगा मानो हम यहीं पैदा हुएं हैं और यहीं मरना है।

गंगोत्री तक राहगीरों के लिए बना हुआ भयंकर रास्ता है। गोमुख तक के लिए उन दिनों एक पगडंडी थी। इसके बाद कठिनाई थी। तपोवन काफी ऊँचाई पर है। रास्ता भी नहीं है। अंतःप्रेरणा या भाग्य भरोसे चलना पड़ता है। तपोवन पठार चौरस है। फिर पहाड़ियों की ऊँची शृंखला है। इसके बाद नंदन वन आता है। हमें यहीं बुलाया गया था। समय पर पहुँच गए। देखा तो गुरुदेव खड़े थे। प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। हमारा भी और उनका भी। वे पहली बार हमारे घर गए थे, इस बार हम उनके यहाँ आए। यह सिलसिला जीवन भर चलता रहे तो ही इस बँधे सूत्र की सार्थकता है।

तीन परीक्षाएँ इस बार होनी थीं, बिना साथी के काम

चलाना—ऋतुओं के प्रकोप की तितीक्षा सहना, हिंस्र पशुओं के साथ रहते हुए विचलित न होना। तीनों में ही अपने को उत्तीर्ण समझा और परीक्षक ने वैसा ही माना।

बात–चीत का सिलसिला तो थोड़े ही समय में पूरा हो गया। ''अध्यात्म शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रचंड मनोबल संपादित करना, प्रतिकूलताओं को दबोचकर अनुकूलता में ढाल देना, सिंह व्याघ्र तो क्या मौत से भी न डरना, ऋषि कल्प आत्माओं के लिए तो यह स्थिति नितांत आवश्यक है। तुम्हें ऐसी ही परिस्थितियों के बीच अपने जीवन का बहुत सा भाग गुजारना है।''

उस समय की बात समाप्त हो गई। जिस गुफा में उनका निवास था, वहाँ तक ले गए। इशारे में बताए हुए स्थान पर सोने का उपक्रम किया, तो वैसा ही किया। इतनी गहरी नींद आई कि नियत क्रम की अपेक्षा दूना तीन गुना समय लग गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। रास्ते की सारी थकान इस प्रकार दूर हो गई, मानो कहीं चलना ही नहीं पड़ा था।

वहीं बहते निर्झर में स्नान किया। संध्या वंदन भी। जीवन में पहली बार ब्रह्म कमल और देवकमल देखा। ब्रह्मकमल ऐसा जिसकी सुगंध थोड़ी देर में ही नींद कहें या योग निद्रा ला देती है। देवकंद वह जो जमीन में शकरकंद की तरह निकलता है। सिघाड़े जैसे स्वाद का। पका होने पर लगभग पाँच सेर का, जिससे एक सप्ताह तक क्षुधा निवारण का क्रम चल सकता है। गुरुदेव के यही दो प्रथम प्रत्यक्ष उपहार थे। एक शारीरिक थकान मिटाने के लिए और दूसरा मन में उमंग भरने के लिए।

इसके बाद तपोवन पर दृष्टि दौड़ाई। पूरे पठार पर मखमली फूलदार गलीचा सा बिछा हुआ था। तब तक भारी बर्फ नहीं पड़ी थी। जब पड़ती है, तब यह फूल सभी पककर जमीन पर फैल जाते हैं, अगले वर्ष उगने के लिए।

ऋषि तंत्र से दुर्गम हिमालय में साक्षात्कार

नंदन वन में पहला दिन वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य को निहारने, उसी में परम सत्ता की झाँकी देखने में निकल गया। पता ही नहीं चला कि कब सूरज ढला और रात्रि आ पहुँची। परोक्ष रूप से निर्देश मिला, समीपस्थ एक निर्धारित गुफा में जाकर सोने की व्यवस्था बनाने का। लग रहा था कि प्रयोजन सोने का नहीं, सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने का है, ताकि स्थूल शरीर पर शीत का प्रकोप न हो सके। संभावना थी कि पुनः रात्रि को गुरुदेव के दर्शन होंगे। ऐसा हुआ भी।

उस रात्रि को गुफा में गुरुदेव सहसा आ पहुँचे। पूर्णिमा थी। चंद्रमा का सुनहरा प्रकाश समूचे हिमालय पर फैल रहा था। उस दिन ऐसा लगा कि हिमालय सोने का है। दूर-दूर बर्फ के टुकड़े तथा बिंदु बरस रहे थे, वे ऐसा अनुभव कराते थे, मानों सोना बरस रहा है। मार्गदर्शक के आ जाने से गर्मी का एक घेरा चारों ओर बन गया। अन्यथा रात्रि के समय इस विकट ठंड और हवा के झोकों में साधारणतया निकलना संभव न होता। दुस्साहस करने पर इस वातावरण में शरीर जकड़ या ऐंठ सकता था।

किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही यह अहेतुकी कृपा हुई, यह मैंने पहले ही समझ लिया, इसलिए इस काल में जाने का कारण पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। पीछे-पीछे चल दिया। पैर जमीन से ऊपर उठते हुए चल रहे थे। आज यह जाना कि सिद्धि में ऊपर हवा में उड़ने की-अंतरिक्ष में चलने की क्यों आवश्यकता पड़ती है। उन बर्फीले ऊबड़-खाबड़ हिम खंडों पर चलना उससे कहीं अधिक कठिन था, जितना कि

पानी की सतह पर चलना। आज उन सिद्धियों की अच्छी परिस्थितियों में आवश्यकता भले ही न पड़े, पर उन दिनों हिमालय जैसे विकट क्षेत्रों में आवागमन की कठिनाई को समझने वालों के लिए आवश्यकता निश्चय ही पड़ती होगी।

मैं गुफा में से निकलकर शीत से काँपते हुए स्वर्णिम हिमालय पर अधर ही अधर गुरुदेव के पीछे-पीछे उनकी पूँछ की तरह सटा हुआ चल रहा था। आज की यात्रा का उद्देश्य पुरातन ऋषियों की तपस्थलियों का दिग्दर्शन करना था। स्थूल शरीर सभी ने त्याग दिए थे, पर सूक्ष्म शरीर उनमें से अधिकांश के बने हुए थे। उन्हें भेदकर किन्हीं-किन्हीं के कारण शरीर भी झलक रहे थे। नतमस्तक और करबद्ध नमन की मुद्रा अनायास ही बन गई। आज मुझे हिमालय पर सूक्ष्म और कारण शरीरों से निवास करने वाले ऋषियों का दर्शन और परिचय कराया जाना था। मेरे लिए आज की रात्रि जीवन भर के सौभाग्यशाली क्षणों में सबसे अधिक महत्त्व की बेला थी।

उत्तराखंड क्षेत्र की कुछ गुफाएँ तो जब तब आते समय यात्रा के दौरान देखीं थीं, पर देखी वही थीं,जो यातायात की दृष्टि से सुलभ थीं। आज जाना कि जितना देखा है, उससे अनदेखा कहीं अधिक है। इनमें जो छोटी थीं, वे तो वन्य पशुओं के काम आती थीं, पर जो बड़ीं थीं, साफ-सुथरी और व्यवस्थित थीं, वे ऋषियों के सूक्ष्म शरीरों के निमित्त थीं। पूर्व अभ्यास के कारण वे अभी भी उनमें यदा-कदा निवास करते हैं।

वे सभी उस दिन ध्यान मुद्रा में थे। गुरुदेव ने बताया कि वे प्रायः सदा इसी स्थिति में रहते हैं। अकारण ध्यान तोड़ते नहीं। मुझे एक-एक का नाम बताया और सूक्ष्म शरीर का दर्शन कराया गया। यही है संपदा, विशिष्टता और विभूति संपदा इस क्षेत्र की। गुरुदेव के साथ मेरे आगमन की बात उन सभी को पूर्व से ही विदित थी। सो हम दोनों जहाँ भी जिस-जिस समय पहुँचे, उनके नेत्र खुल गए। चेहरों पर हल्की मुस्कान झलकी और सिर उतना ही झुका, मानों वे अभिवादन का प्रत्युत्तर दे रहे हों। वार्तालाप किसी से कुछ नहीं हुआ। सूक्ष्म शरीर को कुछ

कहना होता है, तो वे बेखरी, मध्यमा से नहीं, परा और पश्यन्ति वाणी से, कर्ण छिद्रों के माध्यम से नहीं, अंतःकरण में उठी प्रेरणा के रूप में कहते हैं, पर आज दर्शन मात्र प्रयोजन था। कुछ कहना–सुनना नहीं था। उनकी बिरादरी में एक नया विद्यार्थी भर्ती होने आया, सो उसे जान लेने और जब जैसी सहायता करने की आवश्यकता समझे, तब वैसी उपलब्ध करा देने का सूत्र जोड़ना ही उद्देश्य था। संभवतः यह उन्हें पहले ही बताया जा चुका होगा कि उनके अधूरे कामों को समय की अनुकूलता के अनुसार पूरा करने के लिए यह स्थूल शरीर धारी बालक अपने ढंग से क्या–क्या कुछ करने वाला है एवं अगले दिनों इसकी भूमिका क्या होगी?

सूक्ष्म शरीर से अंतःप्रेरणाएँ उमगाने और शक्तिधारा प्रदान करने का काम हो सकता है, पर जनसाधारण को प्रत्यक्ष परामर्श देना और घटनाक्रमों को घटित करना स्थूल शरीरों का ही काम है। इसलिए दिव्य शक्तियाँ किन्हीं स्थूल शरीर धारियों को ही अपने प्रयोजनों के लिए वाहन बनाती हैं। अभी तक मैं एक ही मार्गदर्शक का वाहन था, पर अब वे हिमालयवासी अन्य दिव्य आत्माएँ भी अपने वाहन के काम ले सकती थीं और तदनुसार प्रेरणा, योजना एवं क्षमता प्रदान करती रह सकती थीं। गुरुदेव इसी भाव वाणी में मेरा परिचय उन सबसे करा रहे थे। वे सभी बिना लोकाचार, शिष्टाचार निबाहे, बिना समय–क्षेप किए एक संकेत में उस अनुरोध की स्वीकृति दे रहे थे। आज रात्रि की दिव्य यात्रा इसी रूप में चलती रही। प्रभात होने से पूर्व ही वे मेरी स्थूल काया को निर्धारित गुफा में छोड़कर अपने स्थान को वापस चले गए।

आज ऋषि लोक का पहली बार दर्शन हुआ। हिमालय के विभिन्न क्षेत्रों–देवालय, सरोवरों, सरिताओं का दर्शन तो यात्रा काल में पहले से भी होता रहा। उस प्रदेश को ऋषि निवास का देवात्मा भी मानते रहे हैं, पर इससे पहले यह विदित न था कि किस ऋषि का किस भूमि से लगाव है? यह आज पहली बार देखा और अंतिम बार भी। वापस छोड़ते समय मार्गदशक ने कह दिया कि इनके साथ अपनी ओर से संपर्क साधने का

प्रयत्न मत करना। उनके कार्य में बाधा मत डालना। यदि किसी को कुछ निर्देशन करना होगा, तो वे स्वयं ही करेंगे। हमारे साथ भी तो तुम्हारा यही अनुबंध है कि अपनी ओर से द्वार नहीं खटखटाओगे। जब हमें जिस प्रयोजन के लिए जरूरत पड़ा करेगी, स्वयं ही पहुँचा करेंगे और उसी पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटा दिया करेंगे। यही बात आगे से तुम उन ऋषियों के संबंध में भी समझ सकते हो, जिनके कि दर्शन प्रयोजनवश तुम्हें आज कराए गए हैं। इस दर्शन को कौतूहल भर मत मानना, वरन् समझना कि हमारा अकेला ही निर्देश तुम्हारे लिए सीमित नहीं रहा। यह महाभाग भी उसी प्रकार अपने सभी प्रयोजन पूरा कराते रहेंगे, जो स्थूल शरीर के अभाव में स्वयं नहीं कर सकते। जनसंपर्क प्रायः तुम्हारे जैसे सत्पात्रों–वाहनों के माध्यम से कराने की ही परंपरा रही है। आगे से तुम इनके निर्देशनों को भी हमारे आदेश की तरह ही शिरोधार्य करना और जो कहा जाए, सो करने के लिए जुट पड़ना। मैं स्वीकृति सूचक संकेत के अतिरिक्त और कहता ही क्या? वे अंतर्ध्यान हो गए।

भावी रूपरेखा का स्पष्टीकरण

नंदन वन के प्रवास का अगला दिन और भी विस्मयकारी था। पूर्व रात्रि में गुरुदेव के साथ ऋषिगणों के साक्षात्कार के दृश्य फिल्म की तरह आँखों के समक्ष घूम रहे थे। पुनः गुरुदेव की प्रतीक्षा थी, भावी निर्देशों के लिए। धूप जैसे ही नंदन–वन के मखमली कालीन पर फैलने लगी, ऐसा लगा जैसे स्वर्ग धरती पर उतर आया हो। भाँति–भाँति के रंगीन फूल ठसाठस भरे थे और चौरस पठार पर बिखरे हुए थे। दूर से देखने पर लगता था कि मानों गलीचा बिछा हो।

सहसा गुरुदेव का स्थूल शरीर रूप में आगमन हुआ। उन्होंने आवश्यकतानुसार पूर्व रात्रि के प्रतिकूल अब वैसा ही स्थूल शरीर बना लिया था जैसा कि प्रथम बार प्रकाश पुंज के रूप में पूजा घर में अवतरित होकर हमें दर्शन दिया था।

वार्तालाप को आरंभ करते हुए उन्होंने कहा–"हमें तुम्हारे पिछले सभी जन्मों की श्रद्धा और साहसिकता का पता था। अब की बार यहाँ बुलाकर तीन परीक्षाएँ ली और जाँचा कि बड़े कामों का वजन उठाने लायक मनोभूमि तुम्हारी बनी या नहीं। हम इस पूरी यात्रा में तुम्हारे साथ रहे और घटनाक्रम तथा उनके साथ उठती प्रतिक्रिया को देखते रहे तो और भी अधिक निश्चिंतता हो गई। यदि स्थिति सुदृढ़ और विश्वस्त न रही होती, तो इस क्षेत्र के निवासी सूक्ष्म शरीरधारी ऋषिगण तुम्हारे समक्ष प्रकट न होते और मन की व्यथा न कहते।" उनके कथन का प्रयोजन यही था कि काम छूटा हुआ है, उसे पूरा किया जाए। समर्थ देखकर ही उनने अपने मनोभाव प्रकट किए, अन्यथा दीन, दुर्बल, असमर्थों के सामने इतने बड़े लोग अपना मन खोलते ही कहाँ हैं?

तुम्हारा समर्पण यदि सच्चा है, तो शेष जीवन की कार्य पद्धति बनाए देते हैं। इसे परिपूर्ण निष्ठा के साथ पूरी करना। प्रथम कार्यक्रम तो यही है कि २४ लक्ष्य गायत्री महामंत्र के २४ महापुरश्चरण चौबीस वर्ष में पूरे करो। इससे मजबूती में जो कमी रही होगी, सो पूरी हो जाएगी। बड़े और भारी काम करने के लिए बड़ी समर्थता चाहिए। इसी के निमित्त यह प्रथम कार्यक्रम सौंपा गया है। इसी के साथ–साथ दो कार्य और भी चलते रहेंगे। एक यह कि अपना अध्ययन जारी रखो। तुम्हें कलम उठानी है। आर्ष ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशन की व्यवस्था करके उसे सर्व–साधारण तक पहुँचाना हैं। इससे देव संस्कृति की लुप्तप्राय कड़ियाँ जुड़ेंगी और भविष्य में विश्व संस्कृति का ढाँचा खड़ा करने में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही जब तक स्थूल शरीर विद्यमान है, तब तक मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने वाला–सर्वसुलभ साहित्य विश्व वसुधा की सभी संभव भाषाओं में लिखा जाना है। यह कार्य तुम्हारी प्रथम साधना शक्ति से संबद्ध है। इसमें समय आने पर तुम्हारी सहायता के लिए सुपात्र मनीषी आ जुटेंगे, जो तुम्हारा छोड़ा काम पूरा करेंगे।

तीसरा कार्य स्वतंत्रता संग्राम में एक सिपाही की तरह प्रत्यक्ष एवं पृष्ठभूमि में रहकर लड़ते रहने का है। यह सन् १९४७ तक चलेगा। तब तक तुम्हारा पुरश्चरण भी बहुत कुछ पूरा हो लेगा। यह प्रथम चरण है। इसकी सिद्धियाँ जन साधारण के सम्मुख प्रकट होंगी। इस समय के लक्षण ऐसे नहीं है, जिनसे यह प्रतीत हो कि अँग्रेज भारत को स्वतंत्रता देकर सहज ही चले जाएँगे। किंतु यह सफलता तुम्हारा अनुष्ठान पूरा होने के पूर्व ही मिलकर रहेगी। तब तक तुम्हारा ज्ञान इतना हो जाएगा जितना कि युग परिवर्तन और नव–निर्माण के लिए किसी तत्त्ववेत्ता के पास होना चाहिए।

पुरश्चरणों की समग्र संपन्नता तब होती है, जब उसका पूर्णाहुति यज्ञ भी किया जाए। चौबीस लाख पुरश्चरण का गायत्री महायज्ञ इतना बड़ा होना चाहिए कि जिससे २४ लाख मंत्रों की आहुतियाँ हो सकें एवं तुम्हारा संगठन इस माध्यम से

खड़ा हो जाए। यह भी तुम्हें ही करना है। इसमें लाखों रुपए की राशि और लाखों की सहायक जनसंख्या चाहिए। तुम यह मत सोचना कि हम अकेले हैं, पास में धन नहीं है। हम तुम्हारे साथ हैं। साथ ही तुम्हारी उपासना का प्रतिफल भी, इसलिए संदेह करने की गुंजायश नहीं है। समय आने पर सब हो जाएगा। साथ ही सर्वसाधारण को यह भी विदित हो जाएगा कि सच्चे साधक की सच्ची साधना का कितना चमत्कारी प्रतिफल होता है। यह तुम्हारे कार्यक्रम का प्रथम चरण है, अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना। यह मत सोचना कि हमारी शक्ति नगण्य है। तुम्हारी कम सही, पर जब हम दो मिल जाते हैं, तब एक और एक मिलकर ग्यारह होते हैं और फिर यह तो दैवी सत्ता द्वारा संचालित कार्यक्रम है। इसमें संदेह कैसा? समय आने पर सारी विधि व्यवस्था सामने आती जाएगी। अभी से योजना बनाने और चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। अध्ययन जारी रखो। पुरश्चरण भी करते रहो। स्वतंत्रता सैनिक का काम करो। अधिक आगे की बात सोचने में व्यर्थ ही मन में उद्विग्नता बढ़ेगी। अभी अपनी मातृभूमि में रहो और वहीं से प्रथम चरण के यह तीनों काम करो

आगे की बात संकेत रूप में कहे देते हैं। साहित्य प्रकाशन द्वारा स्वाध्याय का और विशाल धर्म संगठन द्वारा सत्संग का, यह दो कार्य मथुरा रह कर करने पड़ेंगे। पुरश्चरण की पूर्णाहुति भी वहीं होगी। प्रेस प्रकाशन भी वहीं से चलेगा। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की प्रक्रिया सुनियोजित ढंग से वहीं से चलेगी। वह प्रयास एक ऐतिहासिक आंदोलन होगा जैसा कि अब तक कहीं भी नहीं हुआ।

तीसरा चरण इन सूक्ष्म शरीरधारी ऋषियों की इच्छा पूरी करने का है। ऋषि परंपरा का बीजारोपण तुम्हें करना है। इसका विश्वव्यापी विस्तार अपने ढंग से होता रहेगा। यह कार्य सप्त ऋषियों की तपोभूमि सप्त सरोवर हरिद्वार में रहते हुए करना पड़ेगा। तीनों कार्य तीनों जगह उपयुक्त ढंग से चलते रहेंगे। अभी संकेत किया है। आगे चलकर समयानुसार इन कार्यों की विस्तृत रूपरेखा हम यहाँ बुलाकर बताते रहेंगे। तीन बार बुलाने के तीन प्रयोजन होंगे।

चौथी बार तुम्हें भी चौथी भूमिका में जाना है और हमारे प्रयोजन का बोझ इस सदी के अंतिम दशकों में अपने कंधों पर लेना है। तब सारे विश्व में उलझी हुई विषम परिस्थितियों के अत्यंत कठिन और अत्यंत व्यापक कार्य अपने कंधे पर लेने होंगे। पूर्व घोषणा करने से कुछ लाभ नहीं, समयानुसार जो आवश्यक होगा, सो विदित भी होता चलेगा और संपन्न भी।

इस बार की हमारी हिमालय यात्रा में वह असमंजस बना हुआ था कि हिमालय की गुफाओं में सिद्ध पुरुष रहने और उनके दर्शन मात्र से विभूतियाँ मिलने की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। हमें इनका कोई आधार नहीं मिला। वह बात ऐसे ही किंबदंती मालूम पड़ती है। था तो मन का भीतरी असमंजस, पर गुरुदेव ने उसे बिना कहे ही समझ लिया और कंधे पर हाथ रखकर पूछा—"तुझे क्या जरूरत पड़ गई सिद्ध पुरुषों की? ऋषियों के सूक्ष्म शरीरों के दर्शन एवं हमसे मन नहीं भरा?"

अपने मन में अविश्वास जैसी बात, कोई दूसरा खोजने जैसी बात स्वप्न में भी नहीं उठी थी। मात्र बाल कौतूहल मन में था। गुरुदेव ने इसे अविश्वास मान लिया होगा तो श्रद्धा क्षेत्र में हमारी कुपात्रता मानेंगे। यह विचार मन में आते ही स्तब्ध रह गया।

मन को पढ़ लेने वाले देवात्मा ने हँसते हुए कहा। वे हैं तो सही, पर दो बातें नई हो गई हैं। एक तो सड़कों की, वाहनों की सुविधा होने से यात्री अधिक आने लगे हैं। इससे उनकी साधना में विघ्न पड़ता है। दूसरे यह कि अन्यत्र जाने पर शरीर निर्वाह में असुविधा होती है। इसलिए उन्होंने स्थूल शरीरों का परित्याग कर दिया है और सूक्ष्म शरीर धारण करके रहते हैं। जो किसी को दृष्टिगोचर भी न हो और उनके लिए निर्वाह साधनों की आवश्यकता भी न पड़े। इस कारण उन सभी ने शरीर ही नहीं स्थान भी बदल लिए हैं। स्थान ही नहीं साधना के साथ जुड़े कार्यक्रम भी बदल लिए हैं। जब सब कुछ परिवर्तन हो गया तो दृष्टिगोचर कैसे हो? फिर सत्पात्र साधकों का अभाव हो जाने के कारण वे कुपात्रों को दर्शन देने या उन पर की हुई अनुकंपा में अपनी शक्ति गँवाना भी नहीं चाहते, ऐसी

दशा में अन्य लोग जो तलाश करते हैं, वह मिलना संभव नहीं। किसी के लिए भी संभव नहीं। तुम्हें अगली बार पुनः हिमालय के सिद्ध पुरुषों की दर्शन झाँकी करा देंगे।

परमब्रह्म के अंशधर देवात्मा सूक्ष्म शरीर में किस प्रकार रहते हैं। इसका प्रथम परिचय हमने अपने मार्गदर्शक के रूप में घर पर ही प्राप्त कर लिया था। उनके हाथों में विधिवत् मेरी नाव सुपुर्द हो गई थी। फिर भी बालबुद्धि अपना काम कर रही थी। हिमालय में अनेक सिद्ध पुरुषों के निवास की जो बात सुन रखी थी, उस कौतूहल को देखने का जो मन था वह ऋषियों के दर्शन एवं मार्गदर्शक की सांत्वना से पूरा हो गया था। इस लालसा को पहले अपने अंदर ही मन के किसी कोने में छिपाए फिरते थे। आज उसके पूरे होने व आगे भी दर्शन होते रहने का आश्वासन मिल गया था। संतोष तो पहले भी कम न था, पर अब वह प्रसन्नता और प्रफुल्लता के रूप में और भी अधिक बढ़ गया।

गुरुदेव ने आगे कहा–"हम जब भी बुलाएँ तब समझना कि हमने ६ माह या एक वर्ष के लिए बुलाया है। तुम्हारा शरीर इस लायक बन गया है कि इधर की परिस्थितियों में निर्वाह कर सको। इस नए अभ्यास को परिपक्व करने के लिए इस निर्धारित अवधि में एक–एक करके तीन बार इधर हिमालय में ही रहना चाहिए। तुम्हारे स्थूल शरीर के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता समझेंगे, हम प्रबंध कर दिया करेंगे। फिर इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि स्थूल से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से कारण शरीर में प्रवेश करने के लिए जो तितीक्षा करनी पड़ती है, सो होती चलेगी। शरीर को क्षुधा, पिपासा, शीत, ग्रीष्म, निद्रा, थकान व्यथित करती हैं। इन छः को घर पर रहकर जीतना कठिन है, क्योंकि सारी सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध रहने से यह प्रयोजन आसानी से पूरे होते हैं और तप–तितिक्षाओं के लिए अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार मन पर छाए रहने वाले छः कषाय–कल्मष भी किसी न किसी घटनाक्रम के साथ घटित होते रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर इन छः रिपुओं से जूझने के लिए आरण्यकों में रहकर इनसे निपटने का अभ्यास करना

पड़ता है। तुम्हें घर रह कर यह अवसर भी न मिल सकेगा। इसलिए अभ्यास के लिए जन संकुल संस्थान से अलग रहने से उस आंतरिक मल्ल युद्ध में भी सरलता होती है। हिमालय में रहकर तुम शारीरिक तितीक्षा और मानसिक तपस्या करना। इस प्रकार तीन बार, तीन वर्ष यहाँ आते रहने और शेष वर्षों में जन संपर्क में रहने से परीक्षा भी होती चलेगी कि जो अभ्यास हिमालय में रहकर किया था, वह परिपक्व हुआ या नहीं?''

यह कार्यक्रम देवात्मा गुरुदेव ने ही बनाया था, पर था मेरा इच्छित। इसे मनोकामना की पूर्ति कहना चाहिए। स्वास्थ्य, सत्संग और मनन–चिंतन से यह तथ्य भली प्रकार हृदयंगम हो गया था कि दसों इंद्रियाँ प्रत्यक्ष और ग्यारहवीं अदृश्य मन इन सबका निग्रह कर लेने पर बिखराव से छुटकारा मिल जाता है और आत्मसंयम का पराक्रम बन पड़ने पर मनुष्य की दुर्बलताएँ समाप्त हो जाती हैं और विभूतियाँ जग पड़ती हैं। सशरीर सिद्ध पुरुष होने का यही राजमार्ग है। इंद्रिय निग्रह, अर्थ निग्रह, समय निग्रह और विचार निग्रह यह चार संयम हैं। इन्हें सुधारने वाले महामानव बन जाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह इन चारों में मन को उबार लेने पर लौकिक सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं।

मैं तपश्चर्या करना चाहता था, पर करता कैसे? समर्पित को स्वेच्छा आचरण की सुविधा कहाँ? जो मैं चाहता था, वह गुरुदेव के मुख से आदर्श रूप में कहे जाने पर मैं फूला न समाया और उस क्रिया कृत्य के लिए समय निर्धारित होने की प्रतीक्षा करने लगा।

गुरुदेव बोले–''अब वार्ता समाप्त हुई। तुम गंगोत्री चले जाओ। वहाँ तुम्हारे निवास, आहार आदि की व्यवस्था हमने कर दी है। भागीरथ शिला, गौरी कुंड पर बैठकर अपना साधना क्रम आरंभ कर दो। एक साल पूरा हो जाए, तब अपने घर लौट जाना। हम तुम्हारी देखभाल नियमित रूप से करते रहेंगे।''

गुरुदेव अदृश्य हो गए। हमें उनका दूत गोमुख तक पहुँचा गया। इसके बाद उनके बताए हुए स्थान पर एक वर्ष के शेष दिन पूरे किए।

समय पूरा होने पर हम वापस लौट पड़े। अब की बार

इधर से लौटते हुए उन कठिनाइयों में से एक भी सामने नहीं आईं, जो जाते समय पग–पग पर हैरान कर रही थी। वे परीक्षाएँ थीं, जो पूरी हो जाने पर लौटते समय कठिनाइयों का सामना करना भी क्यों पड़ता?

हम एक वर्ष बाद घर वापस लौट आए। वजन १८ पौंड बढ़ गया। चेहरा लाल और गोल हो गया था। शरीरगत शक्ति काफी बढ़ी हुई थी। हर समय प्रसन्नता छाई रहती थी। लौटने पर लोगों ने गंगाजी का प्रसाद माँगा। सभी को गंगोत्री की रेती में से एक चुटकी दे दी व गोमुख के जल का प्रसाद दे दिया। यही वहाँ से साथ लेकर भी लौटे थे। दीख सकने वाला प्रत्यक्ष प्रसाद यही एक ही था, जो दिया जा सकता था। वस्तुतः यह हमारे जीनव का एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यद्यपि इसके बाद भी हिमालय जाने का क्रम बराबर बना रहा एवं गंतव्य भी वही है, फिर भी गुरुदेव के साथ विश्व व्यवस्था का संचालन करने वाली परोक्ष ऋषि सत्ता का प्रथम दर्शन अंतःस्थल पर अमिट छाप छोड़ गया। हमें अपने लक्ष्य, भावी जीवन क्रम, जीवन यात्रा में सहयोगी बनने वाली जागृत प्राणवान आत्माओं का आभास भी इसी यात्रा में हुआ। हिमालय की हमारी पहली यात्रा अनेंक अनुभवों की कथा गाथा है, जो अन्य अनेकों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध हो सकती है।

अनगढ़ मन हारा, हम जीते

अपनी पहली यात्रा में ही सिद्ध पुरुषों, संतों के विषय में वस्तु स्थिति का पता चल गया। हम स्वयं जिस भ्रम में थे, वह दूर हो गया और दूसरे जो लोग हमारी ही तरह सोचते रहे होंगे उनके भ्रम का निराकरण करते रहे, अपने साक्षात्कार प्रसंग को याद रखते हुए दुहराया कि अपनी पात्रता पहले ही अर्जित न कर ली हो तो उनसे भेंट हो जाना अशक्य है, क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर में होते हैं और उचित अधिकारी के सामने ही प्रकट होते हैं। यह जानकारियाँ हमें पहले न थीं।

हमारी हिमालय यात्रा का विवरण पूर्व में ''सुनसान के सहचर'' पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। यह विवरण तो लंबा है, पर साराँश थोड़ा ही है। अभावों और आशंकाओं के बीच प्रतिकूलताओं को किस तरह मनोबल के सहारे पार किया जा सकता है, इसका आभास उनमें मिल सकेगा। मन साथ दे तो सर्वसाधारण को संकट दीखने वाले प्रसंग किस प्रकार हँसी-मजाक जैसे बन जाते हैं, कुछ इसी प्रकार के विवरण उन छपे प्रसंगों में पाठकों को मिल सकते हैं। अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले को मन इतना मजबूत तो बनाना ही पड़ता है।

पुस्तक बड़ी है, विवरण भी सुविस्तृत है, पर उसमें बातें थोड़ी सी हैं, साहित्यिक विवेचना ज्यादा है। हिमालय और गंगा तट क्यों साधना के लिए अधिक उपयुक्त हैं, इसका कारण हमने उसमें दिया है। एकांत में सूनेपन का जो भय लगता है, उसमें चिंतन की दुर्बलता ही कारण है। मन मजबूत हो तो साथियों की तलाश क्यों करनी पड़े? उनके न मिलने पर एकाकीपन का डर क्यों लगे? जंगली पशु अकेले रहते हैं। उनके लिए तो हिंस्र पशु-पक्षी भी आक्रमण करने को बैठे रहते

हैं। फिर मनुष्य से तो सभी डरते हैं। साथ ही उसमें इतनी सूझ-बूझ भी होती है कि आत्मरक्षा कर सके। चिंतन भय की ओर मुड़े तो इस संसार में सब कुछ डरावना है। यदि साहस साथ दे तो हाथ, पैर, मुख और मन, बुद्धि इतनों का निरंतर साथ रहने पर डरने का क्या कारण हो सकता है? वन्य पशुओं में कुछ ही हिंसक होते हैं। फिर मनुष्य निर्भय रहे, उनके प्रति अंतः से प्रेम भावना रखें तो खतरे का अवसर आने की कम ही संभावना रहती है। राजा हरिश्चंद्र श्मशान की जलती चिताओं के बीच रहने की मेहतर की नौकरी करते थे। केन्या के मसाई शेरों के बीच झोपड़े बनाकर रहते हैं। वनवासी आदिवासी सर्पों और व्याघ्रों के बीच रहते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि सूझ-बूझ वाला आदमी वहाँ न रह सके, जहाँ खतरा समझा जा सकता है।

आत्मा परमात्मा के घर में एकाकी आता है। खाना, सोना, चलना भी अकेले ही होता है। भगवान के घर भी अकेले ही जाना पड़ता है। फिर अन्य अवसरों पर भी आपको परिष्कृत और भावुक मन के सहारे उल्लास अनुभव कराता रहे तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है? अध्यात्म के प्रतिफल रूप में मन में इतना परिवर्तन तो दृष्टिगोचर होना ही चाहिए। शरीर को जैसे अभ्यास में ढालने का प्रयास किया जाता है, वह वैसा ही ढल जाता है। उत्तरी ध्रुव के ऐस्किमों केवल मछलियों के सहारे जिंदगी गुजार देते हैं। दुर्गम हिमालय एवं आल्पस पर्वत के ऊँचे क्षेत्रों में रहने वाले अभावों के बावजूद स्वस्थ लंबी जिंदगी जीते हैं। पशु भी घास के सहारे गुजारा कर लेते हैं। मनुष्य भी यदि उपयोगी पत्तियाँ चुनकर अपना आहार निर्धारित कर ले, तो अभ्यास न पड़ने पर ही थोड़ी गड़बड़ रहती है। बाद में गाड़ी ढर्रे पर चलने लगती है। ऐसे-ऐसे अनेक अनुभव हमें उस प्रथम हिमालय यात्रा में हुए और जो मन सर्वसाधारण को कहीं से कहीं खींचे-खींचे फिरता है, वह काबू में आ गया और कुकल्पनाएँ करने के स्थान पर आनंद एवं उल्लास भरी अनुभूतियाँ अनायास ही देने लगा। संक्षेप में यही है हमारी "सुनसान के सहचर" पुस्तक का सार-संक्षेप। ऋतुओं की प्रतिकूलता से निपटने के

लिए भगवान ने उपयुक्त माध्यम रखे हैं। जब इर्द-गिर्द बर्फ पड़ती है, तब गुफाओं के भीतर समुचित गर्मी रहती है। गोमुख क्षेत्र की कुछ हरी झाड़ियाँ जलाने से जलने लगती हैं। रात्रि को प्रकाश दिखाने के लिए ऐसी ही एक वनौषधि झिलमिल जगमगाती रहती है। तपोवन और नंदन वन में एक शकरकंद जैसा अत्यधिक मधुर स्वाद वाला ''देवकंद'' जमीन में पकता है। ऊपर तो यह घास जैसा दिखाई देता है, पर भीतर से उसे उखाड़ने पर आकार में इतना बड़ा निकलता है कि कच्चा भूनकर एक सप्ताह तक गुजारा चल सकता है। भोज पत्र के तने की मोटी-गाँठें होती हैं। उन्हें कूटकर चाय की तरह क्वाथ बना लिया जाए तो बिना नमक के भी वह क्वाथ बड़ा स्वादिष्ट लगने लगता है। भोज पत्र का छिलका ऐसा होता है कि उसे बिछाने, ओढ़ने और पहनने के काम में आच्छादन रूप में लिया जा सकता है। यह बातें यहाँ इसलिए लिखनी पड़ रही हैं कि भगवान ने हर वस्तु की असह्यता से निपटने के लिए सारी व्यवस्था रखी है। परेशान तो मनुष्य अपने मन की दुर्बलता से अथवा अभ्यस्त वस्तुओं की निर्भरता से होता है। यदि मनुष्य आत्म-निर्भर रहे तो तीन चौथाई समस्याएँ हल हो जाती हैं। एक चौथाई के लिए अन्य विकल्प ढूँढ़े जा सकते हैं और उनके सहारे समय काटने के अभ्यास किए जा सकते हैं। मनुष्य हर स्थिति में अपने को फिट कर सकता है। उसे तब हैरानी होती है, जब वह यह चाहता है कि अन्य सब लोग उसकी मर्जी के अनुरूप बन जाएँ, परिस्थितियाँ अपने अनुकूल ढल जाएँ। यदि अपने को बदल लें, तो हर स्थिति से गुजरा और उल्लासयुक्त बना रहा जा सकता है।

यह बातें पढ़ी और सुनीं तो पहले भी थीं, पर अनुभव में इस वर्ष के अंतर्गत ही आईं, जो प्रथम हिमालय यात्रा में व्यवहार में लानी पड़ीं। यह अभ्यास एक अच्छी-खासी तपश्चर्या थी, जिसने अपने ऊपर नियंत्रण करने का भली प्रकार अभ्यास करा दिया। अब हमें विपरीत परिस्थितियों में भी गुजारा करने से परेशानी का अनुभव नहीं होता था। हर प्रतिकूलता को अनुकूलता की तरह अभ्यास में उतारते देर नहीं लगती।

एकाकी जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह का कोई अवसर नहीं था। इसलिए उनसे निपटने का कोई झंझट सामने नहीं आया। परीक्षा के रूप में जो भय प्रलोभन सामने आए उन्हें हँसी में उड़ा दिया गया। यहाँ स्वाभिमान भी काम न कर पाया। सोचा "हम आत्मा हैं। प्रकाश पुंज और समर्थ। गिराने वाले भय और प्रलोभन हमें न तो गिरा सकते हैं न उलटा घसीट सकते हैं।" मन का निश्चय सुदृढ़ देखकर पतन और पराभव के जो भी अवसर आए, वे परास्त होकर वापस लौट गए। एक वर्ष के उस हिमालय निवास में जो ऐसे अवसर आए, उनका उल्लेख करना यहाँ इसलिए उपयुक्त नहीं समझा कि अभी हम जीवित हैं और अपनी चरित्र निष्ठा की ऊँचाई का वर्णन करने में कोई आत्म-श्लाघा की गंध सूँघ सकता है। यहाँ तो हमें मात्र इतना ही कहना है कि अध्यात्म पथ के पथिक को आए दिन भय और प्रलोभनों का दबाव सहना पड़ता है। इनसे जूझने के लिए हर पथिक को कमर कसकर तैयार रहना चाहिए। जो इतनी तैयारी न करेगा उसे उसी तरह पछताना पड़ेगा, जिस प्रकार सरकस के संचालक और रिंग मास्टर का पद बिना तैयारी किए कोई ऐसे संभाल ले और पीछे हाथ पैर तोड़ लेने अथवा जान जोखिम में डालने का उपहास कराए।

उपासना, साधना और आराधना में-"साधना" ही प्रमुख है। उपासना का कर्मकांड कोई नौकरी की तरह भी कर सकता है। आराधना-पुण्य परमार्थ को कहते हैं। जिसने अपने को साध लिया है, उसके लिए और कोई काम करने के लिए बचता ही नहीं। उत्कृष्टता संपन्न मन अपने लिए सबसे लाभदायक व्यवसाय-पुण्य परमार्थ ही देखता है। इसी में उसकी अभिरुचि और प्रवीणता बन जाती है। हिमालय के प्रथम वर्ष में हमें आत्म-संयम की, मनोनिग्रह की साधना करनी पड़ी। जो कुछ चमत्कार हाथ लगे हैं, उसी के प्रतिफल हैं। उपासना तो समय काटने का एक व्यवसाय बन गया है।

घर चार घंटे नींद लिया करते थे। यहाँ उसे बढ़ाकर छः घंटे कर दिया। कारण कि घर पर तो अनेक स्तर के अनेक काम रहते हैं, पर यहाँ तो दिन का प्रकाश हुए बिना मानसिक

जप के अतिरिक्त और कुछ कर सकना ही संभव न था। पहाड़ों की ऊँचाई में प्रकाश देर से आता है और अंधेरा जल्दी हो जाता है। इसलिए बारह घंटे के अंधेरे में छः घंटे सोने के लिए, छः घंटे उपासना के लिए पर्याप्त होने चाहिए। स्नान का बधंन वहाँ नहीं रहा। मध्यान्ह को ही नहाना और कपड़े सुखाना संभव होता था। इसलिए परिस्थिति के अनुरूप दिनचर्या बनानी पड़ी। दिनचर्या के अनुरूप परिस्थितियाँ तो बन नहीं सकती थीं।

''प्रथम हिमालय यात्रा कैसी संपन्न हुई?'' इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के अनुरूप मन को ढाल लेने का अभ्यास भली प्रकार कर लिया। इसे यों भी कह सकते हैं कि आधी मंजिल पार कर ली। इस प्रकार प्रथम वर्ष में दबाव तो अत्यधिक सहने पड़े, तो भी कच्चा लोहा तेज आग की भट्टी में ऐसा लोहा बन गया, जो आगे चलकर किसी भी काम आ सकने के योग्य बन गया।

पिछला जीवन बिलकुल ही दूसरे ढर्रे में ढला था। सुविधाओं और साधनों के सहारे गाड़ी लुढ़क रही थी। सब कुछ सीधा और सरल लग रहा था, पर हिमालय पहुँचते ही सब कुछ उलट गया। वहाँ की परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें निभ सकना केवल उन्हीं के लिए संभव था, जो छिड़ी लड़ाई के दिनों में कुछ ही समय की ट्रेनिंग लेकर सीधे मोर्चे पर चले जाते हैं और उस प्रकार के साहस का परिचय देते हैं जिसका इससे पूर्व कभी पाला नहीं पड़ा था।

प्रथम हिमालय यात्रा का प्रत्यक्ष प्रतिफल एक ही रहा कि अनगढ़ मन हार गया और हम जीत गए। प्रत्येक नई असुविधा को देखकर उसने नए बछड़े की तरह हल में चलने से कम आना–कानी नहीं की, किंतु उसे कहीं भी समर्थन न मिला। असुविधाओं को उसने अनख तो माना और लौट चलने की इच्छा प्रकट की, किंतु पाला ऐसे किसान से पड़ा था जो मरने मारने पर उतारू था। आखिर मन को झक मारनी पड़ी और हल में चलने का अपना भाग्य अंगीकार करना पड़ा। यदि जी कच्चा पड़ा होता तो स्थिति वह नहीं बन पड़ती, जो अब बन गई है। पूरे एक वर्ष नई–नई प्रतिकूलताएँ अनुभव होती रहीं,

बार–बार ऐसे विकल्प उठते रहे जिसका अर्थ होता था कि इतनी कड़ी परीक्षा में पड़ने पर हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। भविष्य की साँसारिक प्रगति का द्वार बंद हो जाएगा। इसलिए समूची स्थिति पर पुनर्विचार करना चाहिए।

एक बार तो मन में ऐसा ही तमोगुणी विचार भी आया, जिसे छिपाना उचित नहीं होगा। वह यह कि जैसा बीसियों ढोंगियों ने हिमालय का नाम लेकर अपनी धर्म ध्वजा फहरा दी है, वैसा ही कुछ करके सिद्ध पुरुष बन जाना चाहिए और उस घोषणा के आधार पर जन्म भर गुलछर्रे उड़ाने चाहिए। ऐसे बीसियों आदमियों की चरित्र गाथा और ऐशो–आराम भरी बिडंबना का हमें आद्योपांत परिचय है। यह विचार उठा, वैसे ही उसे जूते के नीचे दबा दिया। समझ में आ गया कि मन की परीक्षा ली जा रही है। सोचा कि जब अपनी सामान्य प्रतिभा के बलबूते ऐशो–आराम के आडंबर खड़े किए जा सकते हैं, तो हिमालय को, सिद्ध पुरुषों को, सिद्धियों को, भगवान को, तपश्चर्या को बदनाम करके आडंबर रचने से क्या फायदा?

उस प्रथम वर्ष में मार्गदर्शक ऋषि सत्ता के साक्षात्कार ने हमें आमूल–चूल बदल दिया, अनगढ़ मन के साथ नए परिष्कृत मन का मल्ल–युद्ध होता रहा और यह कहा जा सकता है कि परिणाम स्वरूप हम पूरी विजयश्री लेकर वापस लौटे।

प्रवास का दूसरा चरण एवं कार्य क्षेत्र का निर्धारण

प्रथम परीक्षा देने के लिए हिमालय बुलाए जाने के आमंत्रण को प्रायः दस वर्ष बीत गए। फिर बुलाए जाने की आवश्यकता नहीं समझी गई। उनके दर्शन उसी मुद्रा में होते रहे जैसे कि पहली बार हुए थे। "सब ठीक है" इतने ही शब्द कहकर प्रत्यक्ष संपर्क होता रहा। अंतरात्मा में उसका समावेश निरंतर होता रहा कभी अनुभव नहीं हुआ कि हम अकेले हैं। सदा दो साथ रहने जैसी अनुभूति होती रही। इस प्रकार दस वर्ष बीत गए।

स्वतंत्रता संग्राम चल ही रहा था। इसी बीच ऋतु अनुकूल पाकर पुनः आदेश आया हिमालय पहुँचने का। दूसरे ही दिन चलने की तैयारी कर दी। आदेश की उपेक्षा करना, विलंब लगाना हमारे लिए संभव न था। जाने की जानकारी घर के सदस्यों को देकर प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में चल पड़ने की तैयारी कर दी। सड़क तब भी उत्तरकाशी तक ही बनी थी। आगे के लिए निर्माण कार्य आरंभ हो रहा था।

रास्ता अपना देखा हुआ था। ऋतु उतनी ठंडी नहीं थी जितनी कि पिछली बार थी। रास्ते पर आने-जाने वाले मिलते रहे। चट्टियाँ (ठहरने की छोटी धर्मशालाएँ) भी सर्वथा खाली नहीं थीं। इस बार कोई कठिनाई नहीं हुई। सामान भी अपेक्षाकृत साथ में ज्यादा नहीं था। घर जैसी सुविधा तो कहाँ, किंतु जिन परिस्थितियों में यात्रा करनी पड़ी, वह असह्य नहीं अनभ्यस्त भर थी। क्रम यथावत् चलता रहा।

पिछली बार जो तीन परीक्षाएँ ली थीं, इस बार इनमें से एक से भी पाला नहीं पड़ा। जो परीक्षा ली जा चुकी है, उसी को बार-बार लेने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। गंगोत्री तक

का रास्ता ऐसा था जिसके लिए किसी से पूछताछ नहीं करनी थी। गंगोत्री से गोमुख के १४ मील ही ऐसे हैं जिनका रास्ता बर्फ पिघलने के बाद हर साल बदल जाता है, चट्टाने टूट जाती हैं और इधर-उधर गिर पड़ती हैं। छोटे नाले भी चट्टानों से रास्ता रुक जाने के कारण अपना रास्ता इधर से उधर बदलते रहते हैं। नए वर्ष का रास्ता यों तो उस क्षेत्र से परिचित किसी जानकार को लेकर पूरा करना पड़ता था या फिर अपनी विशेष बुद्धि का सहारा लेकर अनुमान के आधार पर बढ़ते और रुकावट आ जाने पर लौटकर दूसरा रास्ता खोजने का क्रम चलता रहा। इस प्रकार गोमुख जा पहुँचे।

आगे के लिए गुरुदेव का संदेशवाहक साथ जाना था। वह भी सूक्ष्म शरीरधारी था। छाया पुरुष यों वीरभद्र स्तर का था। समय-समय पर वे उसी से अनेकों काम लिया करते थे। जितनी बार हमें हिमालय जाना पड़ा, तब नंदन वन एवं और ऊँचाई तक तथा वापस गोमुख पहुँचाने का काम उसी के जिम्मे था। सो उस सहायक की सहायता से हम अपेक्षाकृत कम समय में और अधिक सरलता पूर्वक पहुँच गए। रास्ते भर दोनों ही मौन रहे।

नंदन वन पहुँचते ही गुरुदेव का सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष रूप में सामने विद्यमान था। उनके प्रकट होते ही हमारी भावनाएँ उमड़ पड़ीं। होंठ काँपते रहे। नाक गीली होती रही। ऐसा लगता रहा मानों अपने ही शरीर का कोई खोया अंग फिर मिल गया हो और उसके अभाव में जो अपूर्णता रहती हो सो पूर्ण हो गई हो। उनका सिर पर हाथ रख देना हमारे प्रति अगाध प्रेम के प्रकटीकरण का प्रतीक था। अभिवादन आशीर्वाद का शिष्टाचार इतने से ही पूर्ण हो गया। गुरुदेव ने हमें संकेत किया, ऋषि सत्ता से पुनः मार्गदर्शन लिए जाने के विषय में। हृदय में रोमाँच हो उठा।

सतयुग के प्रायः सभी ऋषि शरीरों से उसी दुर्गम हिमालय क्षेत्र में निवास करते आए हैं। जहाँ हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ था। स्थान नियत करने की दृष्टि से सभी ने अपने-अपने लिए एक-एक गुफा निर्धारित कर ली है। वैसे शरीर चर्या के

लिए उन्हें स्थान नियत करने या साधन सामग्री जुटाने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो भी अपने–अपने निर्धारित क्रिया–कलाप पूरे करने तथा आश्यकतानुसार परस्पर मिलते–जुलते रहने के लिए सभी ने एक–एक स्थान नियत कर लिए हैं।

पहली यात्रा में हम उन्हें प्रणाम भर कर पाए थे। अब दूसरी यात्रा में गुरुदेव हमें एक–एक करके उनसे अलग–अलग भेंट कराने ले गए। परोक्ष रूप में आशीर्वाद मिला था, अब उनका संदेश सुनने की बारी थी। दीखने को हल्के से प्रकाश पुंज की तरह दीखते थे, पर जब अपना सूक्ष्म शरीर सही हो गया, तो उन ऋषियों का सतयुग वाला शरीर भी यथावत दीखने लगा। ऋषियों के शरीर की जैसी संसारी लोग कल्पना किया करते हैं, वे लगभग वैसे ही थे। शिष्टाचार पाला गया। उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। उन्होंने हाथ का स्पर्श जैसा सिर पर रखा और उतने भर से रोमांच हो उठा। आनंद और उल्लास की उमंगें फूटने लगीं।

बात काम की चली। हर एक ने परावाणी में कहा कि हम स्थूल शरीर से जो गतिविधियाँ चलाते थे, वे अब पूरी तरह समाप्त हो गई हैं। फूटे हुए खंडहरों के अवशेष हैं। जब हम लोग दिव्य दृष्टि से उन क्षेत्रों की वर्तमान स्थिति को देखते हैं, तो बड़ा कष्ट होता है। गंगोत्री से लेकर हरिद्वार तक का पूरा ऋषि क्षेत्र था। उस एकांत में मात्र तपश्चर्या की विधा पूरी होती थी।

उत्तरकाशी में जैसा जमदग्नि का गुरुकुल आरण्यक था, जहाँ–तहाँ वैसे अनेकों ऋषि आश्रम संव्याप्त थे। शेष ऋषि अपने–अपने हिस्से की शोध तपश्चर्याएँ करने में संलग्न रहते थे। देवताओं के स्थान वहाँ थे, जहाँ आज–कल हम लोग अब रहते हैं। हिमयुग के उपरांत न केवल स्थान ही बदल गए, वरन् गतिविधियाँ बदलीं तो क्या, पूरी तरह समाप्त ही हो गईं, उनके चिह्न भर शेष रह गए हैं।

उत्तराखंड में जहाँ–तहाँ देवी–देवताओं के मंदिर तो बन गए हैं ताकि उन पर धनराशि चढ़ती रहे और पुजारियों का गुजारा होता चले, पर इस बात को न कोई पूछने वाला है न बताने वाला कि ऋषि कौन थे? कहाँ थे? क्या करते थे? उसका

कोई चिह्न भी अब बाकी नहीं रहा। हम लोगों की दृष्टि में ऋषि परंपरा की तो अब एक प्रकार से प्रलय ही हो गई।

लगभग यही बात उन बीसियों ऋषियों की ओर से कही गई, जिनसे हमारी भेंट कराई गई। विदाई देते समय सभी की आँखें डबडबाई सी दीखीं। लगा कि सभी व्यथित हैं। सभी का मन उदास और भारी है, पर हम क्या कहते? इतने ऋषि मिलकर जितना भार उठाते थे, उसे उठाने की अपनी सामर्थ्य भी तो नहीं है। उन सबका मन भारी देखकर अपना चित्त द्रवित हो गया। सोचते रहे। भगवान ने किसी लायक हमें बनाया होता तो इन देव पुरुषों को इतना व्यथित देखते हुए चुप्पी साधकर ऐसे ही वापस न लौट जाते। स्तब्धता अपने ऊपर भी छा गई और आँखें डबडबाने लगीं, प्रवाहित होने लगीं। इतने समर्थ ऋषि, इतने असहाय, इतने दुःखी, यह उनकी वेदना हमें बिच्छू के डंक की तरह पीड़ा देने लगी

गुरुदेव की आत्मा और हमारी आत्मा साथ–साथ चल रही थीं। दोनों एक दूसरे को देख रहे थे। साथ में उनके चेहरे पर भी उदासी छाई हुई थी। हे भगवान, कैसा विषम समय आया कि किसी ऋषि का कोई उत्तराधिकारी नहीं उपजा। सबका वंश नाश हो गया। ऋषि प्रवृत्तियों में से एक भी सजीव नहीं दीखती। करोड़ों की संख्या में ब्राह्मण हैं और लाखों की संख्या में संत, पर उनमें से दस–बीस भी जीवित रहे होते, तो गाँधी और बुद्ध की तरह गजब दिखाकर रख देते, पर अब क्या हो गया? कौन करे? किस बलबूते पर करे?

राजकुमारी की आँखों से आँसू टपकने पर और कहने पर कि ''को वेदान् उद्धरस्यसि?'' अर्थात् ''वेदों का उद्धार कौन करेगा?'' इसके उत्तर में कुमारिल भट्ट ने कहा था कि–''अभी एक कुमारिल भट्ट भूतल पर है। इस प्रकार विलाप न करो।'' तब एक कुमारिल भट्ट जीवित था। उसने जो कहा था, सो कर दिखाया, पर आज तो कोई नहीं न ब्राह्मण है, न संत। ऋषियों की बात तो बहुत आगे की है। आज तो छद्म वेशधारी ही चित्र–विचित्र रूप बनाए रंगे सियारों की तरह पूरे वन प्रदेश में हुआ–हुआ करते फिर रहे हैं।

दूसरे दिन लौटने पर हमारे मन में इस प्रकार के विचार–दिन भर उठते रहे। जिस गुफा में निवास था, दिन भर यही चिंतन चलता रहा। लेकिन गुरुदेव उन्हें पूरी तरह पढ़ रहे थे, मेरी कसक उन्हें भी दुःख दे रही थी।

उनने कहा–"तब फिर ऐसा करो! अब की बार उन सबसे मिलने फिर से चलते हैं। कहना–आप लोग कहें तो उसका बीजारोपण तो मैं कर सकता हूँ। खाद–पानी आप देंगे, तो फसल उग पड़ेगी। अन्यथा प्रयास करने से अपना मन तो हल्का होगा ही।"

"साथ में यह भी पूछना कि शुभारंभ किस प्रकार किया जाए, इसकी रूपरेखा बताएँ। मैं कुछ न कुछ अवश्य करूँगा। आप लोगों का अनुग्रह बरसेगा तो इस सूखे श्मशान में हरीतिमा उगेगी।"

गुरुदेव के आदेश पर तो मैं यह भी कह सकता था जलती आग में जल मरूँगा। जो होना होगा, सो होता रहेगा। प्रतिज्ञा करने और उसे निभाने में प्राण की साक्षी देकर प्रण तो किया ही जा सकता है। यह विचार मन में उठ रहे थे। गुरुदेव उन्हें पढ़ रहे थे। अब की बार मैंने देखा कि उनका चेहरा ब्रह्मकमल जैसा खिल गया है।

दोनों स्तब्ध थे और प्रसन्न भी। पीछे लौट चलने और उन सभी ऋषियों से दुबारा मिलने का निश्चय हुआ, जिनसे कि अभी–अभी विगत रात्रि ही मिलकर आए थे। दुबारा हम लोगों को वापस आया हुआ देखकर उनमें से प्रत्येक बारी–बारी से प्रसन्न होता गया और आश्चर्यान्वित भी।

मैं तो हाथ जोड़े सिर नवाए मंत्र–मुग्ध की तरह खड़ा रहा। गुरुदेव ने मेरी कामना, इच्छा और उमंग उन्हें परोक्षतः परावाणी में कह सुनाई। और कहा–"यह निर्जीव नहीं है। जो कहता है उसे करेगा भी। आप यह बताइए कि आपका जो कार्य छूटा हुआ है, उसका नए सिरे से बीजारोपण किस तरह हो। खाद पानी आप–हम लोग लगाते रहेंगे,तो इसका उठाया हुआ कदम खाली नहीं जाएगा।

इसके बाद उनने गायत्री पुरश्चरण की पूर्ति पर मथुरा

में होने वाले सहस्रकुंडी पूर्णाहुति में इसी छाया रूप में पधारने का आमंत्रण दिया और कहा यह बंदर तो हैं, पर है हनुमान। यह रीछ तो है, पर है जामवंत। यह गिद्ध तो है, पर है जटायु। आप इसे निर्देश दीजिए और आशा कीजिए कि जो छूट गया है, वह फिर से विनिर्मित होगा और अंकुर वृक्ष बनेगा। हम लोग निराश क्यों हों? इससे आशा क्यों न बाँधें, जबकि यह गत तीन जन्मों में दिए गए दायित्वों को निष्ठापर्वूक निभाता चला आ रहा है।'

चर्चा एक से चल रही थी, पर निमंत्रण पहुँचते ही एक क्षण लगा और वे सभी एक-एक करके एकत्रित हो गए। निराशा गई, आशा बँधी और आगे का कार्यक्रम बना कि जो हम सब करते रहे हैं, उसका बीज एक खेत में बोया जाए और पौधशाला तैयार की जाए उसके पौधे सर्वत्र लगेंगे और उद्यान लहलहाने लगेगा।

यह शांतिकुंज बनाने की योजना थी, जो हमें मथुरा के निर्धारित निवास के बाद पूरी करनी थी। गायत्री नगर बसने और ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान का ढाँचा खड़ा किए जाने की योजना भी विस्तार से समझाई गई। पूरे ध्यान से उसका एक-एक अक्षर हृदय पटल पर लिख लिया और निश्चय किया कि २४ लक्ष्य का पुरश्चरण पूरा होते ही इस कार्यक्रम की रूपरेखा बनेगी और चलेगी। निश्चय ही, अवश्य ही और जिसे गुरुदेव का संरक्षण प्राप्त हो वह असफल रहे ऐसा हो ही नहीं सकता।

एक दिन और रुका। उसमें गुरुदेव ने पुरश्चरण की पूर्णाहुति का स्वरूप विस्तार से समझाया एवं कहा कि ''पिछले वर्षों की स्थिति और घटनाक्रम को हम बारीकी से देखते रहे हैं और उसमें जहाँ कुछ अनुपयुक्त जँचा है, उसे ठीक करते रहे हैं। अब आगे क्या करना है, उसी का स्वरूप समझाने के लिए इस बार बुलाया गया है। पुरश्चरण पूरा होने में अब बहुत समय नहीं रहा है, जो रहा है उसे मथुरा जाकर पूरा करना चाहिए। अब तुम्हारे जीवन का दूसरा चरण मथुरा से आरंभ होगा।

प्रयाग के बाद मथुरा ही देश का मध्य केंद्र है। आवागमन की दृष्टि से वही सुविधाजनक भी है। स्वराज्य हो जाने के बाद तुम्हारा राजनैतिक उत्तरदायित्व तो पूरा हो जाएगा, पर वह

कार्य अभी पूरा नहीं होगा। राजनैतिक क्रांति तो होगी, आर्थिक क्रांति तथा उससे संबंधित कार्य भी सरकार करेगी, किंतु इसके बाद तीन क्रांतियाँ और शेष हैं–जिन्हें धर्म तंत्र के माध्यम से ही पूरा किया जाना है। उनके बिना पूर्णता न हो सकेगी। देश इसलिए पराधीन या जर्जर नहीं हुआ था कि यहाँ शूरवीर नहीं थे। आक्रमणकारियों को परास्त नहीं कर सकते थे। भीतरी दुर्बलताओं ने पतन पराभव के गर्त में धकेला। दूसरों ने तो उस दुर्बलता का लाभ भर उठाया।

नैतिक क्रांति–बौद्धिक क्रांति और सामाजिक क्रांति संपन्न की जानी है। इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों का संग्रह करना और जो करना है उससे संबंधित विचारों को व्यक्त करना अभी से आवश्यक है। इसलिए तुम अपना घर–गाँव छोड़कर मथुरा जाने की तैयारी करो। वहाँ छोटा घर लेकर एक मासिक पत्रिका आरंभ करो। साथ ही क्रांतियों के संबंध में आवश्यक जानकारी देने का प्रकाशन भी। अभी तुम से इतना काम बन पड़ेगा। थोड़े ही दिन उपरांत तुम्हें दुर्वासा ऋषि की तपस्थली में मथुरा के समीप एक भव्य गायत्री मंदिर बनाना है। सह कर्मियों के आवागमन, निवास, ठहरने आदि के लिए। इसके उपरांत २४ महापुरश्चरण के पूरे हो जाने की पूर्णाहुति स्वरूप एक महायज्ञ करना है। अनुष्ठानों की परंपरा जप के साथ यज्ञ करने की है। तुम्हारे २४ लक्ष्य के २४ अनुष्ठान पूरे होने जा रहे हैं। इसके लिए एक सहस्त्र कुंडों की यज्ञशाला में एक हजार मांत्रिकों द्वारा २४ लाख आहुतियों का यज्ञ आयोजन किया जाना है। उसी अवसर पर ऐसा विशालकाय संगठन खड़ा हो जाएगा। जिसके द्वारा तत्काल धर्मतंत्र से जन जागृति का कार्य प्रारंभ किया जा सके। यह अनुष्ठान की पूर्ति का प्रथम चरण है। लगभग २४ वर्षों में इस दायित्व की पूर्ति के उपरांत तुम्हें सप्त सरोवर हरिद्वार जाना है, जहाँ रहकर वह कार्य पूरा करना है, जिसके लिए ऋषियों की विस्मृत परंपराओं को पुनर्जागृत करने हेतु तुमने स्वीकृति सूचक सम्मति दी थी।''

मथुरा की कार्य शैली, आदि से अंत तक किस प्रकार संपन्न की जानी है, इसकी एक सुविस्तृत रूपरेखा उन्होंने आदि

से अंत तक समझाई। इसी बीच आर्ष साहित्य के अनुवाद, प्रकाशन, प्रचार की तथा गायत्री परिवार के संगठन और उसके सदस्यों को काम सौंपने की रूपरेखा उन्होंने बता दी।

जो आदेश हो रहा है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहने दी जाएगी। यह मैंने प्रथम मिलन की तरह उन्हें आश्वासन दे दिया, पर एक ही संदेह रहा कि इतने विशालकाय कार्य के लिए जो धन शक्ति और जन शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, उसकी पूर्ति कहाँ से होगी?

मन को पढ़ रहे गुरुदेव हँस पड़े। ''इन साधनों के लिए चिंता की आवश्यकता नहीं है। जो तुम्हारे पास है, उसे बोना आरंभ करो। इसकी फसल सौ गुनी होकर पक जाएगी और जो काम सौंपे गए हैं, उन सभी के पूरा हो जाने का सुयोग बन जाएगा। क्या हमारे पास है, उसे कैसे, कहाँ बोया–जाना है और उसकी फसल कब, किस प्रकार पकेगी, यह जानकारी भी उनने दी।

जो उन्होंने कहा–उसकी हर बात गाँठ बाँध ली। भूलने का तो प्रश्न ही नहीं था। भूला तब जाता है, जब उपेक्षा होती है। सेनापति का आदेश सैनिक कहाँ भूलता है? हमारे लिए भी अवज्ञा एवं उपेक्षा करने का कोई प्रश्न नहीं।

वार्ता समाप्त हो गई। इस बार छः महीने ही हिमालय रुकने का आदेश हुआ। जहाँ रुकना था, वहाँ की सारी व्यवस्था बना दी गई। गुरुदेव के वीरभद्र ने हमें गोमुख पहुँचा दिया। वहाँ से हम निर्देशित स्थान पर जा पहुँचे और छः महीने पूरे कर लिए। लौटकर घर आए थे तो स्वास्थ्य पहले से भी अच्छा था। प्रसन्नता और गंभीरता बढ़ गई थी, जो प्रतिभा के रूप में चेहरे के इर्द–गिर्द छाई हुई थी। लौटने पर जिनने भी देखा, उन सभी ने कहा–''लगता है, हिमालय में कहीं बड़ी सुख–सुविधा का स्थान है। तुम वहीं जाते हो और स्वास्थ्य संबर्धन करके लौटते हो।'' हमने हँसने के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं दिया।

अब मथुरा जाने की तैयारी थी। एक बार दर्शन की दृष्टि से मथुरा देखा तो था, पर वहाँ किसी से परिचय न था। चलकर पहुँचा गया और ''अखंड–ज्योति'' प्रकाशन के लायक एक

छोटा मकान किराए पर लेने का निश्चय किया।

मकानों की उन दिनों भी किल्लत थी। बहुत ढूँढ़ने के बाद भी आवश्यकता के अनुरूप नहीं मिल रहा था। ढूँढ़ते–ढूँढ़ते घीया मंडी जा निकले। एक मकान खाली पड़ा था। मालकिन एक बुढ़िया थी। किराया पूछा, तो उसने पंद्रह रुपया बताया और चाबी हाथ में थमा दी। भीतर घुसकर देखा तो उसमें छोटे–बड़े कुल पंद्रह कमरे थे। था तो जीर्ण–शीर्ण पर एक रुपया कमरे के हिसाब से वह मँहगा किसी दृष्टि से न था। हमारे लिए काम चलाऊ भी था। पसंद आ गया और एक महीने का किराया पेशगी पंद्रह रुपया हाथ पर रख दिए। बुढ़िया बहुत प्रसन्न थी।

घर जाकर सभी सामान ले आए और पत्नी बच्चों समेत उसमें रहने लगे। सारे मुहल्ले में काना–फूसी होते सुनी। मानों हमारा वहाँ आना कोई आश्चर्य का विषय हो। पूछा तो लोगों ने बताया कि–"यह भुतहा मकान है। इसमें जो भी आया, जान गँवाकर गया। कोई टिका नहीं। हमने तो कितनों को ही आते और धन–जन की भारी हानि उठाकर भागते हुए देखा। आप बाहर के नए आदमी हैं इसलिए धोखे में आ गए। अब बात आपके कान में डाल दी। यदि ऐसा न होता तो तीन मंजिला १५ कमरों का मकान वर्षों से क्यों खाली पड़ा रहता? आप समझ बूझकर भी उसमें रह रहे हैं। नुकसान उठाएँगे।"

इतना सस्ता और इतना उपयोगी मकान अन्यत्र मिल नहीं रहा था। हमने तो उसी में रहने का निश्चय किया। भुतहा होने की बात सच थी। रात भर छत के ऊपर धमा–चौकड़ी रहती। ठठाने की, रोने की, लड़ने की आवाजें आतीं। उस मकान में बिजली तो थी नहीं। लालटेन जलाकर ऊपर गए, तो कुछ स्त्री–पुरुष आकृतियाँ आगे कुछ पीछे भागते दीखे, पर साक्षात भेंट नहीं हुई। न उन्होंने हमें कोई नुकसान पहुँचाया। ऐसा घटनाक्रम कोई दस दिन तक लगातार चलता रहा।

एक दिन हम रात को १ बजे करीब ऊपर गए। लालटेन हाथ में थी। भागने वालों से रुकने के लिए कहा। रुक गए। हमने कहा–"आप बहुत दिन से इस घर में रहते आए हैं। ऐसा

करें कि ऊपर की मंजिल के सात कमरों में आप लोग गुजारा करें। नीचे के आठ कमरों में हमारा काम चल जाएगा। इस प्रकार हम सब राजी नामा करके रहें। न आप लोग परेशान हों और न हमें हैरान होना पड़े।'' किसी ने उत्तर नहीं दिया। खड़े जरूर रहे। दूसरे दिन से पूरा घटनाक्रम बदल गया। हमने अपनी ओर से समझौते का पालन किया और वे सभी उस बात पर सहमत हो गए। छत पर कभी–कभी चलने–फिरने जैसी आवाजें तो सुनी गईं, पर ऐसा उपद्रव न हुआ जिससे हमारी नींद हराम होती, बच्चे डरते या काम में विघ्न पड़ता। घर में जो टूट–फूट थी, अपने पैसों से संभलवा ली। ''अखंड ज्योति'' पत्रिका पुनः इसी घर से प्रकाशित होने लगी। परिजनों से पत्र–व्यवहार यही आरंभ किया। पहले वर्ष में ही दो हजार के क़रीब ग्राहक बन गए। ग्राहकों से पत्र व्यवहार करते और वार्तालाप करने के लिए बुलाते रहे। अध्ययन का क्रम तो रास्ता चलने के समय चलता रहा। रोज टहलने जाते, उसी समय में दो घंटा नित्य पढ़ लेते। अनुष्ठान भी अपनी छोटी सी पूजा की कोठरी में चलता रहता। कॉंग्रेस के काम के स्थान पर लेखन कार्य को अब गति दे दी। अखंड ज्योति पत्रिका, आर्ष साहित्य का अनुवाद, धर्म तंत्र से लोकशिक्षण की रूपरेखा इन्हीं विषयों पर लेखनी चल पड़ी। पत्रिका अपनी ही हैंडप्रेस से छापते, शेष साहित्य दूसरी प्रेसों से छपा लेते। इस प्रकार ढर्रा चला तो, पर वह चिंता बराबर बनी रही कि अगले दिनों मथुरा में रहकर जो प्रकाशन का बड़ा काम करना है, प्रेस लगाना है, गायत्री तपोभूमि का भव्य भवन बनाना है, यज्ञ इतने विशाल रूप में करना है, जितना महाभारत के उपरांत दूसरा नहीं हुआ इन सबके लिए धन शक्ति और जन शक्ति कैसे जुटे? बोओ और काटो, उसे अब समाज रूपी खेत में कार्यान्वित करना था। सच्चे अर्थों में अपरिग्रही ब्राह्मण बनना था, इसी कार्यक्रम की रूपरेखा मस्तिष्क में घूमने लगीं।

विचार क्रांति का बीजारोपण
पुनः हिमालय आमंत्रण

मथुरा से ही उस विचार क्रांति अभियान ने जन्म लिया, जिसके माध्यम से आज करोड़ों व्यक्तियों के मन-मस्तिष्कों को उलटने का संकल्प पूरा कर दिखाने का हमारा दावा आज सत्य होता दिखाई देता है। सहस्र कुंडीय यज्ञ तो पूर्वजन्म से जुड़े उन परिजनों के समागम का माध्यम था, जिन्हें भावी जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी थी। इस यज्ञ में एक लाख से भी अधिक लोगों ने समाज से, परिवार से एवं अपने अंदर से बुराइयों को निकाल फेंकने की प्रतिज्ञाएँ लीं। यह यज्ञ नरमेध यज्ञ था। इनमें हमने समाज के लिए समर्पित लोकसेवियों की माँग की एवं समयानुसार हमें वे सभी सहायक उपलब्ध होते चले गए। यह सारा खेल उस अदृश्य बाजीगर द्वारा संपन्न होता ही हम मानते आए हैं, जिसने हमें माध्यम बनाकर समग्र परिवर्तन का ढाँचा खड़ा कर दिखाया।

मथुरा में ही नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रांति के लिए गाँव-गाँव आलोक वितरण करने एवं घर-घर अलख जगाने के लिए सर्वत्र गायत्री यज्ञ समेत युग निर्माण सम्मेलन के आयोजनों की एक व्यापक योजना बनाई गई। मथुरा के सहस्र कुंडीय यज्ञ के अवसर पर जो प्राणवान व्यक्ति आए थे, उन्होंने अपने यहाँ एक शाखा संगठन खड़ा करने और एक ऐसा ही यज्ञ आयोजन का दायित्व अपने कंधों में लिया या कहें कि उस दिव्य वातावरण में अंतःप्रेरणा ने उन्हें दायित्व सौंपा ताकि हर व्यक्ति न्यूनतम एक हजार विचारशील व्यक्तियों को अपने समीपवर्ती क्षेत्र में से ढूँढ़कर अपना सहयोगी बनाए। आयोजन चार-चार

दिन के रखे गए। इनमें तीन दिन तीन क्रांतियों की विस्तृत रूपरेखा और कार्य पद्धति समझाने वाले संगीत और प्रवचन रखे गए। अंतिम चौथे दिन यज्ञाग्नि के सम्मुख उन लोगों से व्रत धारण करने को कहा गया, जो अवाँछनीयता को छोड़ने और उचित परंपराओं को अपनाने के लिए तैयार थे।

ऐसे आयोजन जहाँ–जहाँ भी हुए, बहुत ही सफल रहे, इनके माध्यम से प्रायः एक करोड़ व्यक्तियों ने मिशन की विचारधारा को सुना एवं लाखों व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने अनैतिकताओं, अंध–विश्वासों एवं कुरीतियों के परित्याग की प्रतिज्ञाएँ लीं। इन आयोजनों में से अधिकाँश के बिना दहेज और धूमधाम के साथ विवाह हुए। मथुरा में एक बार और सौ कुंडीय यज्ञ में १०० आदर्श विवाह कराए गए। तब से ये प्रचलन बराबर चलते आ रहे हैं और हर वर्ष इस प्रकार के आंदोलन से अनेक व्यक्ति लाभ उठाते रहे हैं।

सहस्त्र कुंडीय यज्ञ से संबंधित महत्वपूर्ण प्रसंगों से जुड़े अनेकानेक रहस्यमय घटनाक्रमों का विवरण बताना अभी जनहित में उपयुक्त न होगा। इस काया को छोड़ने के बाद ही वह रहस्योद्घाटन हो, ऐसा प्रतिबंध हमारे मार्गदर्शक का है, सो हमने उसे दबी कलम से ही लिखा है। इस महान यज्ञ से हमें प्रत्यक्ष रूप से काफी कुछ मिला। एक बहुत बड़ा संगठन रातों रात गायत्री परिवार के रूप में खड़ा हो गया। युग निर्माण योजना के विचार क्रांति अभियान एवं धर्मतंत्र से लोकशिक्षण के रूप में उनकी भावी भूमिका भी बन गई। जिन–जिन स्थानों से आए व्यक्तियों ने अपने यहाँ शाखा स्थापित करने के संकल्प लिए, लगभग वहीं दो दशक बाद हमारे प्रज्ञा संस्थान एवं स्वाध्याय मंडल विनिर्मित हुए। जिन स्थाई कार्यकर्त्ताओं ने हमारे मथुरा से आने के बाद प्रेस–प्रकाशन, संगठन–प्रचार का दायित्व अपने कंधों पर लिया, वे इसी महायज्ञ से उभरकर आए थे। संप्रति शांतिकुंज में स्थाई रूप से कार्यरत बहुंसख्य स्वयं सेवकों की पृष्ठभूमि में इस महायज्ञ अथवा इसके बाद देश भर में हुए आयोजनों की प्रमुख भूमिका रही है।

इससे हमारी स्वयं की संगठन सामर्थ्य विकसित हुई है।

हमने गायत्री तपोभूमि के सीमित परिकर में ही एक सप्ताह, नौ दिन एवं एक–एक माह के कई शिविर आयोजित किए। आत्मोन्नति के लिए पंचकोशी साधना शिविर, स्वाध्याय संवर्धन हेतु कायाकल्प सत्र एवं संगठन विस्तार हेतु परामर्श एवं जीवन साधना सत्र उन कुछ प्रमुख आयोजनों में से हैं, जो हमने सहस्र एवं शतकुंडीय यज्ञ के बाद मथुरा में मार्गदर्शक के निर्देशानुसार संपन्न किए। गायत्री तपोभूमि में आने वाले परिजनों से जो हमें प्यार मिला, परस्पर आत्मीयता की जो भावना विकसित हुई, उसी ने एक विशाल गायत्री परिवार को जन्म दिया। यह वही गायत्री परिवार है, जिसका हर सदस्य हमें पिता के रूप में, उँगली पकड़ कर चलाने वाले मार्गदर्शक के रूप में, घर परिवार और मन की समस्याओं को सुलझाने वाले चिकित्सक के रूप में देखता आया है।

इसी स्नेह सद्भाव के नाते हमें भी उनके यहाँ जाना पड़ा, जो हमारे यहाँ आए थे। कई स्थानों पर छोटे–छोटे यज्ञायोजन थे, कहीं सम्मेलन तो कहीं प्रबुद्ध समुदाय के बीच तर्क, तथ्य, प्रतिपादनों के आधार पर गोष्ठी आयोजन। हमने जब मथुरा छोड़कर हरिद्वार आने का निश्चय किया तो लगभग दो वर्ष तक पूरे भारत का दौरा करना पड़ा। पाँच स्थानों पर तो उतने ही बड़े सहस्र कुंडी यज्ञों का आयोजन था, जितना बड़ा मथुरा का सहस्र कुंडी यज्ञ था। ये थे टाटानगर, महासमुंद, बहराइच, भीलवाड़ा एवं पोरबंदर। एक दिन में तीन–तीन स्थानों पर रुकते हुए हजारों मील का दौरा अपने अज्ञातवास पर जाने के पूर्व कर डाला। इस दौरे से हमारे हाथ लगे समर्पित, समयदानी कार्यकर्त्ता। ऐसे अगणित व्यक्ति हमारे संपर्क में आए, जो पूर्व जन्म में ऋषि जीवन जी चुके थे। उनकी समस्त सामर्थ्य को पहचान कर हमने उन्हें परिवार से जोड़ा और इस प्रकार पारिवारिक सूत्रों से बँधा एक विशाल संगठन बनकर खड़ा हो गया।

मार्गदर्शक का आदेश वर्षों पूर्व ही मिल चुका था कि हमें छः माह के प्रवास के लिए पुनः हिमालय जाना होगा, पर पुनः मथुरा न लौटकर हमेशा के लिए वहाँ से मोह तोड़ते हुए हरिद्वार

सप्त सरोवर में सप्तऋषियों की तपस्थली में ऋषि परंपरा की स्थापना करनी होगी। अपना सारा दायित्व हमने क्रमशः धर्मपत्नी के कंधों पर सौंपना काफी पूर्व से आरंभ कर दिया था। वे पिछले तीन में से दो जन्मों में हमारी जीवन संगिनी बन कर रहीं थीं। इस जन्म में भी उन्होंने अभिन्न साथी–सहयोगी की भूमिका निभाई। वस्तुतः हमारी सफलता के मूल में उनके समर्पण–एक निष्ठ सेवा भाव को देखा जाना चाहिए। जो कुछ भी हमने चाहा, जिन प्रतिकूलताओं में जीवन जीने हेतु कहा, उन्होंने सहर्ष अपने को उस क्रम में ढाल लिया। हमारी पारिवारिक पृष्ठभूमि ग्रामीण जमींदार के घराने की थी, तो उनकी एक धनी शहरी खानदान की, परंतु जब घुलने का प्रश्न आया तो दोनों मिलकर एक हो गए। हमने अपने गाँव की भूमि विद्यालय हेतु दे दी एवं जमींदारी बांड से मिली राशि गायत्री तपोभूमि के लिए जमीन खरीदने हेतु। तो उन्होंने अपने सभी जेवर तपोभूमि का भवन विनिर्मित होने के लिए दे दिए। यह त्याग–समर्पण उनका है, जिसने हमें इतनी बड़ी ऊँचाईयों तक पहुँचाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अपनी दूसरी हिमालय यात्रा में उन्होंने हमारी अनुपस्थिति में संपादन–संगठन की जिम्मेदारी सँभाली ही थी। अब हम १० वर्ष बाद १९७१ में एक बहुत बड़ा परिवार अपने पीछे छोड़कर हिमालय जा रहे थे। गायत्री परिवार को दृश्य रूप में एक संरक्षक चाहिए, जो उन्हें स्नेह–ममत्व दे सके। उनकी दुःख भरी वेदना में आँसू पोंछने का कार्य माता ही कर सकती थी। माता जी ने यह जिम्मेदारी भलीभाँति सँभाली। प्रवास पर जाने के ३ वर्ष पूर्व से ही हम लंबे दौरे पर रहा करते थे। ऐसे में मथुरा आने वाले परिजनों से मिलकर उन्हें दिलासा देने का कार्य वे अपने कंधों पर ले चुकी थीं। हमारे सामाजिक जीवन जीने में हमें उनका सतत् सहयोग ही मिला। २०० रुपए में पाँच व्यक्तियों का गुजारा परिवार का भरण पोषण किया, आने वालों का समुचित आतिथ्य सत्कार भी वे करती रहीं। किसी को निराश नहीं लौटने दिया। मथुरा में जिया हमारा जीवन एक अमूल्य धरोहर के रूप में है। इसने न केवल हमारी भावी

क्रांतिकारी जीवन की नींव डाली, अपितु क्रमशः प्रत्यक्ष पीछे हटने की स्थिति में दायित्व सँभाल सकने वाले मजबूत कंधों वाले नर तत्व भी हाथ लगे।

मथुरा के कुछ रहस्यमय प्रसंग

प्रारंभ में मथुरा में रहकर जिन गतिविधियों को चलाने के लिए हिमालय से आदेश हुआ था, उन्हें अपनी जानकारी की क्षमता द्वारा कर सकना कठिन था। न साधन, न साथ, न अनुभव, न कौशल। फिर इतने विशाल काम किस प्रकार बन पड़ें? हिम्मत टूटती सी देखकर मार्गदर्शक ने परोक्षतः लगाम हाथ में सँभाली। हमारे शरीर भर का उपयोग हुआ। बाकी सब काम कठपुतली नचाने वाला बाजीगर स्वयं करता रहा, लकड़ी के टुकड़े का श्रेय इतना ही है कि तार मजबूती से जकड़ कर रखे और जिस प्रकार नाचने का संकेत हुआ, वैसा करने से इंकार नहीं किया।

चार घंटे नित्य लिखने के लिए निर्धारण किया। लगता रहा कि व्यास और गणेशजी का उदाहरण चल पड़ा। पुराण लेखन में व्यास बोलते गए थे। ठीक वही यहाँ हुआ। आर्ष ग्रंथों का अनुवाद कार्य अति कठिन है। चारों वेद, १०८ उपनिषद, छहों दर्शन, चौबीसों स्मृतियाँ आदि-आदि सभी ग्रंथों में हमारी कलम और उँगलियों का उपयोग हुआ। बोलती-लिखती कोई और अदृश्य शक्ति रही। अन्यथा इतना कठिन काम इतनी जल्दी बन पड़ना संभव न था। फिर धर्मतंत्र से लोकशिक्षण का प्रयोग पूरा करने वाली सैकड़ों की संख्या में लिखी गईं पुस्तकें मात्र एक ही व्यक्ति के बलबूते किस प्रकार होती रह सकती थीं। यह लेखन कार्य जिस दिन से आरंभ हुआ, उस दिन से लेकर आज तक बंद ही नहीं हुआ। वह बढ़ते-बढ़ते इतना हो गया जितना हमारे शरीर का वजन है।

प्रकाशन के लिए प्रेस की जरूरत हुई। अपने बलबूते पर हैंड प्रेस का जुगाड़ किस तरह जुटाया गया। जिसे काम कराना

था, वह इतनी सी बाल क्रीड़ा को देखकर हँस पड़ा। प्रेस का विकास हुआ। ट्रेडिलें, सिलेंडर, आटोमैटिक, आफसेटें एक के बाद एक आती चली गईं। उन सबकी कीमतें व प्रकाशित साहित्य की लागत लाखों को पार कर गई।

''अखंड–ज्योति'' पत्रिका के अपने पुरुषार्थ से दो हजार तक ग्राहक बनने पर बात समाप्त हो गई थी। फिर मार्गदर्शक ने धक्का लगाया तो अब वह बढ़ते–बढ़ते छपती है, जो एक कीर्तिमान है। उसके और भी दस गुने बढ़ने की संभावना है। युग निर्माण योजना हिंदी, युग शक्ति गायत्री गुजराती, युग शक्ति उड़िया आदि सब मिलाकर भी डेढ़ लाख के करीब हो जाती है। एक व्यक्ति द्वारा रचित इतनी उच्चकोटि की, इतनी अधिक संख्या में बिना किसी का विज्ञापन स्वीकार किए, इतनी संख्या में पत्रिका छपती है और घाटा जेब में से न देना पड़ता हो, यह एक कीर्तिमान है, जैसा अपने देश में अन्यत्र उदाहरण नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

गायत्री परिवार का संगठन करने के निमित्त, महापुरश्चरण की पूर्णाहुति के बहाने हजार कुंडीय यज्ञ मथुरा में हुआ था। उसके संबंध में यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि इतना बड़ा आयोजन महाभारत के उपरांत आज तक नहीं हुआ।

उसकी कुछ रहस्यमयी विशेषताएँ ऐसीं थीं, जिनके संबंध में सही बात कदाचित् ही किसी को मालूम हो। एक लाख नैष्ठिक गायत्री उपासक देश के कोने–कोने से आमंत्रित किए गए। वे सभी ऐसे थे जिनने धर्मतंत्र से लोक शिक्षण का काम हाथों–हाथ सँभाल लिया और इतना बड़ा हो गया जितना कि भारत के समस्त धार्मिक संगठन मिलकर भी पूरे नहीं होते। इन व्यक्तियों से हमारा परिचय बिल्कुल न था, पर उन सबके पास निमंत्रण पत्र पहुँचे और वे अपना मार्ग व्यय खर्च करके भागते चले आए। यह एक पहेली है, जिसका समाधान ढूँढ़ पाना कठिन है।

दर्शकों की संख्या मिलाकर दस लाख तक प्रतिदिन पहुँचती रही। इन्हें सात मील के घेरे में ठहराया गया था। किसी को भूखा नहीं जाने दिया। किसी से भोजन का मूल्य नहीं माँगा

गया। अपने पास खाद्य सामग्री मुट्ठी भर थी। इतनी जो एक बार में बीस हजार के लिए भी पर्याप्त न होती, पर भंडार अक्षय हो गया। पाँच दिन के आयोजन में प्राय: ५ लाख से अधिक खा गए। पीछे खाद्य सामग्री बच गई जो उपयुक्त व्यक्तियों को बिना मूल्य बाँटी गई, व्यवस्था ऐसी अद्‌भुत रही, जैसी हजार कर्मचारी नौकर रखने पर भी नहीं कर सकते थे।

यह रहस्यमयी बातें हैं। आयोजन का प्रत्यक्ष विवरण तो हम दे चुके हैं, पर जो रहस्यमय था, सो अपने तक सीमित रहा है। कोई यह अनुमान न लगा सका कि इतनी व्यवस्था, इतनी सामग्री कहाँ से जुट सकी, यह सब अदृश्य सत्ता का खेल था। सूक्ष्म शरीर से वे ऋषि भी उपस्थित हुए थे, जिनके दर्शन हमने प्रथम हिमालय यात्रा में किए थे। इन सब कार्यों के पीछे जो शक्ति काम कर रही थी, उसके संबंध में कोई तथ्य किसी काविदित नहीं। लोग इसे हमारी करामात चमत्कार कहते रहे, भगवान साक्षी है कि हम जड़ भरत की तरह, मात्र दर्शक की तरह यह सारा खेल देखते रहे। जो शक्ति इस व्यवस्था को बना रही थी, उसके संबंध में कदाचित ही किसी को कुछ आभास हुआ हो।

तीसरा काम जो हमें मथुरा में करना था, वह था गायत्री तपोभूमि का निर्माण । इतने बड़े कार्यक्रम के लिए छोटी इमारत से काम नहीं चल सकता था। वह बनना आरंभ हुई। निर्माण कार्य आरंभ हुआ और हमारे आने के बाद भी अब तक बराबर चलता ही रहा है। प्रज्ञा नगर के रूप में विकसित-विस्तृत हो गया है। जो मथुरा गए हैं, गायत्री तपोभूमि की इमारत और उसका प्रेस, अतिथि व्यवस्था, कार्यकर्त्ताओं का समर्पण भाव आदि देख कर आए हैं, वे आश्चर्यचकित होकर रहे हैं। इतना सामान्य दीखने वाला आदमी किस प्रकार इतनी भव्य इमारत की व्यवस्था कर सकता है। इस रहस्य को जिन्हें जानना हो, उन्हें हमारी पीठ पर काम करने वाली शक्ति को ही इसका श्रेय देना होगा, व्यक्ति को नहीं। अर्जुन का रथ भगवान सारथी बनकर चला रहे थे। उन्होंने जिताया था, पर जीत का श्रेय अर्जुन को मिला और राज्याधिकारी पांडव बने। इसे कोई चाहे

तो पांडवों का पुरुषार्थ–पराक्रम कह सकता है, पर वस्तुतः बात वैसी थी नहीं। यदि होती तो द्रोपदी का चीर उनकी आँखों के सामने कैसे खींचा जाता? वानप्रस्थ काल में जहाँ–तहाँ छिपे रहकर जिस–तिस की नगण्य सी नौकरियाँ क्यों करते फिरते?

हमारी क्षमता नगण्य है, पर मथुरा जितने दिन रहे, वहाँ रहकर इतने सारे प्रकट और अप्रकट कार्य जो हम करते रहे, उसकी कथा आश्चर्यजनक है। उसका कोई लेखा–जोखा लेना चाहे, तो हमारी जीवन साधना के तथ्यों को ध्यान में रखे और हमे नाचने वाली लकड़ी के टुकड़े से बनी कठपुतली के अतिरिक्त और कुछ न माने, यही समर्पण भाव हमारी जीवन गाथा का केंद्र रहा है। यही हमने संपर्क में आने वालों को भी सिखाया व सत्ता द्वारा परोक्ष संचालन हेतु स्वयं को एक निमित्त मानकर उपासना, साधना, आराधना के विविध प्रसंगों का समय–समय पर रहस्योद्‌घाटन किया है। जो चाहे उन्हीं प्रसंगों से हमारी आत्मकथा का तत्त्व दर्शन समझते रह सकते हैं।

महामानव बनने की विधा, जो हमने सीखी–अपनाई

उचित होगा कि आगे का प्रसंग प्रारंभ करने के पूर्व हम अपनी जीवन साधना के, स्वयं की आत्मिक प्रगति से जुड़े तीन महत्त्वपूर्ण चरणों की व्याख्या कर दें। हमारी सफल जीवन यात्रा का यही केंद्र बिंदु रहा है। आत्मगाथा पढ़ने वालों को इस मार्ग पर चलने की इच्छा जागे, प्रेरणा मिले तो वे उस तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करें, जो हमने जीवन में उतारा है। अलौकिक रहस्य प्रसंग पढ़ने–सुनने में अच्छे लग सकते हैं, पर रहते वे व्यक्ति विशेष तक ही सीमित हैं। उनसे "हिप्नोटाइज" होकर कोई उसी कर्मकांड की पुनरावृत्ति कर हिमालय जाना चाहे, तो उसे कुछ हाथ न लगेगा। सबसे प्रमुख पाठ जो इस काया रूपी चोले में रहकर हमारी आत्म–सत्ता ने सीखा है, वह है सच्ची उपासना, सही जीवन साधना एवं समष्टि की आराधना। यही वह मार्ग है जो व्यक्ति को नर मानव से देवमानव, ऋषि, देवदूत स्तर तक पहुँचाता है।

जीवन धारण के लिए अन्न, वस्त्र और निवास की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य सृजन के लिए कलम, स्याही और कागज चाहिए। फसल उगाने के लिए बीज और खाद–पानी का प्रबंध करना है। यही तीनों ही अपने–अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है। उनमें एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आत्मिक प्रगति के लिए उपासना, साधना और आराधना इन दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से किसी अकेले के सहारे लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कोई एक भी नहीं है, जिसे छोड़ा जा सके।

उपासना का सही स्वरूप

भूल यह होती रही है कि जो पक्ष इनमें सबसे गौण है, उसे ''पूजा–पाठ'' की उपासना मान लिया गया और उतने पर ही आदि अंत कर लिया गया। पूजा का अर्थ है हाथों तथा वस्तुओं द्वारा की गई मनुहार, दिए गए छुट–पुट उपचार, उपहार, पाठ का अर्थ है–प्रशंसा परक ऐसे गुणगान जिसमें अत्युक्तियाँ ही भरी पड़ी है। समझा जाता है कि ईश्वर या देवता कोई बहुत छोटे स्तर के हैं, उन्हें प्रसाद, नैवेद्य, नारियल, इलायची जैसी वस्तुएँ कभी मिलती नहीं। पाएँगे तो फूलकर कुप्पा हो जाएँगे। जागीरदारों की तरह प्रशंसा सुनकर चारणों को निहालकर देने की उनकी आदत है। ऐसी मान्यता बनाने वाले देवताओं के स्तर एवं बड़प्पन के संबंध में सार्थक बेखबर होते और बच्चों जैसी नासमझ समझते हैं, जिन्हें इन्हीं खिलवाड़ी से फुसलाया बरगलाया जा सकता है। मनोकामना पूरी करने के लिए उन्हें लुभाया जा सकता है। भले ही वे उचित हों अथवा अनुचित। न्याय संगत हों या अन्याय पूर्ण। आम आदमी इसी भ्रांति का शिकार है। तथाकथित भक्तजनों में से कुछ संपदा पाने या सफलता माँगते हैं, कुछ स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि की फिराक में रहते हैं। कइयों पर ईश्वर दर्शन का भूत चढ़ा रहता है। माला घुमाने और अगरबत्ती जलाने वालों में से अधिकतर संख्या ऐसे ही लोगों की है। मोटे अर्थों में उपासना उतने तक सीमित समझी जाती है। जो इस विडंबना में से जितना अंश पूरा कर लेते हैं, वे अपने को भक्तजन समझने का नखरा करते हैं और बदले में भगवान ने उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं की, तो हजार गुना गालियाँ सुनाते हैं। कई इससे भी सस्ता नुस्खा ढूँढते हैं। वे प्रतिमाओं की, संतों की दर्शन झाँकी करने भर से ही यह मानने लगते हैं कि इस अहसान के बदले ये लोग

झक मार कर अपना मनोरथ पूरा करेंगे।

बुद्धिहीन स्तर की कितनी ही मान्यताएँ समाज में प्रचलित हैं। लोग उन पर विश्वास भी करते हैं और अपनाते भी हैं। उन्हीं में से एक यह भी है कि आत्मिक क्षेत्र की उपलब्धियों के लिए दर्शन–झाँकी या पूजा–पाठ जैसा नुस्खा अपना लेने भर से काम चल जाना चाहिए, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। यदि ऐसा होता तो मंदिरों वाली भीड़ और पूजा–पाठ वाली मंडली अब तक कब की आसमान के तारे तोड़ लाने में सफल हो गई होती।

समझा जाना चाहिए कि जो वस्तु जितनी महत्त्वपूर्ण है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होना चाहिए। प्रधानमंत्री के दरबार का सदस्य बनने के लिए पार्लियामेंट का चुनाव जीतना चाहिए। उपासना का अर्थ है पास बैठना। यह वैसा नहीं है जैसा कि रेलगाड़ी के मुसाफिर एक दूसरे पर चढ़ बैठते हैं। वरन् वैसा है जैसा कि दो घनिष्ठ मित्रों को दो शरीर एक प्राण होकर रहना पड़ता है। सही समीपता ऐसे ही गंभीर अर्थों में ली जानी चाहिए, समझा जाना चाहिए कि इसमें किसी को किसी के लिए समर्पण करना होगा। चाहे तो भगवान अपने नियम विधान, मर्यादा और अनुशासन छोड़कर किसी भजनानंदी के पीछे–पीछे नाक में नकेल डालकर फिरें और जो कुछ भला–बुरा वह निर्देश करे उसकी पूर्ति करता रहे। अन्यथा दूसरा उपाय यही है कि भक्त को अपना जीवन भगवान की मर्जी के अनुरूप बनाने के लिए आत्म–समर्पण करना होगा।

हमें हमारे मार्गदर्शक ने जीवनचर्या को आत्मोत्कर्ष के त्रिविध कार्यक्रमों में नियोजित करने के लिए सर्वप्रथम उपासना का तत्त्वदर्शन और स्वरूप समझाया। कहा–"भगवान तुम्हारी मर्जी पर नहीं नाचेगा। तुम्हें ही भगवान का भक्त बनना और उसके संकेतों पर चलना पड़ेगा। ऐसा कर सकोगे, तो तद्रूप होने का लाभ प्राप्त करेंगे।"

उदाहरण देते हुए उनने समझाया कि "ईंधन की हस्ती दो कौड़ी की होती है, पर जब वह अग्नि के साथ जुड़ जाता है, तो उसमें सारे गुण अग्नि के आ जाते हैं। आग ईंधन नहीं बनती, ईंधन को आग बनना पड़ता है। नाला नदी में मिलकर वैसा ही

पवित्र और महान बन जाता है, पर ऐसा नहीं होता कि नदी उलट कर नाले में मिले और वैसी ही गंदी बन जाए। पारस को छूकर लोहा सोना होता है। लोहा पारस नहीं बनता। किसी भक्त की यह आशा कि भगवान उसके इशारे पर नाचने के लिए सहमत हो जाएगा, आत्म–प्रवंचना भर है। भक्त को ही भगवान के संकेतों पर कठपुतली की तरह नाचना पड़ता है। भक्त की इच्छाएँ भगवान पूरी नहीं करते। वरन् भगवान की इच्छा पूरी करने के लिए भक्त को आत्म–समर्पण करना पड़ता है। बूँद को समुद्र में घुलना पड़ता है। समुद्र बूँद नहीं बनता। यही है उपासना का एक मात्र तत्त्वदर्शन। जो भगवान के समीप बैठना चाहे, वह उसी का निर्देशन, अनुशासन स्वीकार करे। उसी का अनुयायी, सहयोगी बने। "

हमें ऐसा ही करना पड़ा है। भगवान की उपासना गायत्री माता का जप और सविता पिता का ध्यान करते हुए करते रहे। भावना एक ही रखी है कि श्रवण कुमार की तरह आप दोनों को तीर्थयात्रा कराने के आदर्श का परिपालन करेंगे। आपसे कुछ माँगेगे नहीं, आपके सच्चे पुत्र कहला सकें, ऐसा व्यक्तित्त्व ढालेंगे। आपकी निकृष्ट संतान जैसी बदनामी न होने देंगे।

ध्यान की सुविधा के लिए गायत्री को माता और सविता को पिता माना तो सही पर साथ ही यह भी अनुभव किया कि वे सर्वव्यापक और सूक्ष्म हैं। इसी मान्यता के कारण उनको अपने रोम–रोम में और अपना उनकी हर तरंग में घुल सकना संभव हो सका। मिलन का आनंद इससे कम में आता ही नहीं। यदि उन्हें व्यक्ति विशेष माना होता तो दोनों के मध्य अंतर बना ही रहता और घुलकर आत्मसात होने की अनुभूति होने में बाधा ही बनी रहती।

अभ्यास के लिए आंरभिक चरणों में अपने को बेल और भगवान को वृक्ष मानकर उनके साथ लिपटते हुए उतनी ही ऊँचाई तक जा पहुँचने की मान्यता ठीक है। इसी प्रकार अपने को वंशी और भगवान को वादक मानकर उनके द्वारा अनुशासित अनुप्राणित किए जाने का ध्यान भी सुविधाजनक पड़ता है। बच्चे के हाथ में डोरी और उसके इशारे पर पतंग के आकाश में उड़

जाने का ध्यान भी उत्साहवर्धक है। यह तीनों ही ध्यान हमने समय–समय पर किए हैं और उनसे उत्सावर्धक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं, पर सबसे सुखद और प्राणवान अनुभूति एकाकार अनुभव में हुई है। पतंगे का दीपक पर आत्म समर्पण करना, पत्नी का पति के हाथों अपना शरीर, मन और धन–वैभव सौंप देना भक्त को भगवान के साथ तादात्म्य मिलाने की इच्छा अनुभव है। उपासना काल में इन्हीं कृत्यों को अपनाते हुए जप और ध्यान की प्रक्रिया पूरी करते रहा गया है।

हमारी उपासना क्रिया प्रधान नहीं, श्रद्धा प्रधान रही है। निर्धारित जप संख्या को पूरा करने का अनुशासन कठोरतापूर्वक पाला गया है। प्रातः एक बजे उठ बैठने और निर्धारित संकल्प को पूरा करने में कभी कदाचित ही आपत्तिकाल में भूल हुई हो। जो कमी पड़ी है उसकी अगले दिनों पूर्ति कर ली गई है। उपेक्षा में नहीं डाला गया। इतने पर भी उस अवधि में भावनाओं से ओत–प्रोत रहने की मनःस्थिति बनाए रहने का अभ्यास किया गया है और वह सफल भी होता रहा है, समर्पण, एकता, एकात्मता, अद्वैत की भावनाओं का अभ्यास आरंभ में कल्पना के रूप में किया गया था। पीछे वह मान्यता बन गई और अंत में अनुभूति प्रतीत होने लगी।

गायत्री माता की सत्ता–कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होने लगी। यह मात्र कल्पना ही तो नहीं है। इसके लिए बार–बार कठोर आत्म–परीक्षण किया जाता रहा है। देखा कि आदर्श जीवन के प्रति–समष्टि के प्रति अपनी श्रद्धा बढ़ रही है या नहीं। इनके लिए प्रलोभनों और दबावों से इंकार कर सकने की स्थिति है या नहीं। समय–समय पर घटनाओं के साथ जोड़कर भी परख की गई और पाया गया कि भावना परिपक्व हो गई है। उसने अपना स्वस्थ साधन श्रद्धा का वैसा ही बना लिया है जैसा कि ऋषि–कल्प साधक बनाया करते थे।

गायत्री माता मात्र स्त्री शक्ति के रूप में छवि दिखाती है। अब प्रज्ञा बनकर विचार संस्थान पर आच्छादित हो चलीं। इसका जितना बन पड़ा विश्लेषण किया जाता रहा। अनेक

प्रसंगों पर हमने परखा भी है कि समझदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के रूप में प्रज्ञा का समन्वय आत्म–चेतना की गहराई तक हुआ या नहीं। यदि पक्षपात की चूक न हुई हो, तो प्रतीत होता रहा है कि भाव चेतना में प्रज्ञा के रूप में गायत्री माता का अवतरण हुआ है और उनकी उपासना, ध्यान, धारणा फलवती हो चली है। मान्यता का गुण, कर्म, स्वभाव में परिवर्तन होना यही तो उपासनात्मक धारणा की परख है।

त्रिपदा गायत्री का तीसरा स्वरूप है–निष्ठा। निष्ठा अर्थात संकल्प, धैर्य, साहस, पराक्रम, तप, कष्ट सहना। जिस प्रकार आँवे से निकले बर्तन को उँगली से ठोक–ठोककर देखा जाता है कि यह फूटा तो नहीं है, उसी प्रकार प्रलोभन और भय के प्रसंगों पर दृढ़ता डगमगाई तो नहीं, यह क्रिया और भावना की दृष्टि से जाँच–पड़ताल की जाती रही। पाया कि प्रगति रुकी नहीं है, हर कदम क्रमशः आगे ही बढ़ता रहा है।

सविता का तेजस्–ब्रह्मवर्चस् कहलाता है। उसी को ओजस्, तेजस, मनस्, वर्चस् कहते हैं। पवित्रता, प्रखरता और प्रतिभा के रूप में इसका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। सविता के आलोक के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में प्रवेश की विधि पहले ही ऐसा अनुभव कराती रही कि शरीर में बल, मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में भाव–साहस भर रही है। पीछे अनुभव होने लगा कि अपनी समूची सत्ता ही अग्नि पिंड के, ज्योति पिंड के समान बन गई है। नस–नस में, कण–कण में अमृत संव्याप्त हो रहा है। सोमरस पान जैसी तृप्ति, तुष्टि, शांति का आनंद मिल रहा है।

संक्षेप में यही है–हमारी चार घंटा नित्य की नियमित उपासना का उपक्रम। यह समय ऐसी अच्छी तरह कटता रहा है, मानों आधे घंटे में ही समाप्त हो गया, कभी न ऊब आई, न थकावट और न जम्हाई। हर घड़ी नसों में आनंद का संचार होता रहा और ब्रह्म सान्निध्य का अनुभव होता रहा। यह सहज सरल और स्वाभाविक प्रक्रिया चलती रही। न कभी गणना करनी पड़ी, न कभी गर्व हुआ, न परिणाम की अपेक्षा मन में उठी। जिस प्रकार दिनचर्या के अन्य कार्य सहज सरल हो जाते

हैं, उसी प्रकार भगवान के पास बैठना भी एक ऐसा कार्य है, जिसे किए बिना अब हमारे लिए एक दिन बिताना तक संभव नहीं है। नियत घंटे तो उपासना के ऐसे हैं जैसे नशा पीने, ताड़ी खाने में जाने का। जो पिया है, उसकी खुमारी तो चौबीस घंटे बनी ही रहती है। अपने को भगवान में और भगवान को अपने में अनुभव करते हुए क्षण गुजरते रहते हैं।

इस मनःस्थिति में उतार–चढ़ाव की परिस्थितियाँ भी सरल स्वाभाविक लगती हैं। न हर्ष होता है–न शोक। चारों ओर आनंद का समुद्र जैसा लहलहाता दीखता है। जिधर भी देखते हैं, भगवान दीखता है। आगे भी पीछे भी, जिधर भी चलते हैं, वह साथ ही चलता है। बॉडीगार्ड की तरह, पायलट की तरह उसकी उपस्थिति हर घड़ी परिलक्षित होती रहती है। समुद्र तो बूँद नहीं बन सकता, पर बूँद के समुद्र बन जाने की अनुभूति में अब कोई संदेह नहीं रह गया है। उसकी उपस्थिति में न निश्चिंतता की कमी है न निर्भयता की।

आत्मा को परमात्मा से मिला देने वाली जिस श्रद्धा को लंबे जीवन काल में सँजोया गया है, वह अब साक्षात् भगवती की तरह अपनी उपस्थिति और अनुभूति का परिचय देती रहती है।

जीवन साधना जो कभी असफल नहीं जाती

बालक की तरह मनुष्य सीमित है। उसे असीम क्षमता उसके सुसंपन्न सृजेता भगवान से उपलब्ध होती है, पर यह सशर्त है। छोटे बच्चे वस्तुओं का सही उपयोग नहीं जानते, न उनकी संभाल रख सकते हैं, इसलिए उन्हें दुलार में जो मिलता है, हलके दर्जे का होता है। गुब्बारे, झुनझुने, सीटी, लेमनचूस स्तर की विनोद वाली वस्तुएँ ही माँगी जाती और पाई जाती हैं। प्रौढ़ होने पर लड़का घर की जिम्मेदारियाँ समझता और निबाहता है। फलतः बिना माँगे उत्तराधिकार का हस्तांतरण होता जाता है। इसके लिए प्रार्थना याचना नहीं करनी पड़ती। न दाँत निपोरने पड़ते हैं और न नाक रगड़नी पड़ती है। जितना हमें माँगने में उत्साह है उससे हजार गुना देने में उत्साह भगवान को और महामानवों को होता है। कठिनाई एक पड़ती है, सदुपयोग कर सकने की पात्रता विकसित हुई या नहीं?

इस संदर्भ में भविष्य के लिए झूठे वायदे करने से कुछ काम नहीं चलता। प्रमाण यह देना पड़ता है कि अब तक जो हाथ में था उसका उपयोग वैसा होता रहा है। 'हिस्ट्री सीट' इसी से बनती है और प्रमोशन में यह पिछला विवरण ही काम आता है। हमें पिछले कई जन्मों तक अपनी पात्रता और प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ी है। जब बात पक्की हो गई, तो ऊँचे क्षेत्र से अनुग्रह का सिलसिला अपने आप ही चल पड़ा।

सुग्रीव, विभीषण, सुदामा, अर्जुन आदि ने जो पाया, जो दिखाया यह उनके पराक्रम का फल नहीं था, उसमें ईश्वर की सत्ता और महत्ता काम करती रही है। बड़ी नदी के साथ जुड़ी रहने पर नहरों के साथ जुड़े रजवाहे खेतों को पानी देते रहते

हैं। यदि इस सूत्र में कहीं गड़बड़ी उत्पन्न होगी, तो अवरोध खड़ा होगा ओर सिलसिला टूटेगा। भगवान के साथ मनुष्य अपने सुदृढ़ संबंध सुनिश्चित आधारों पर ही बनाए रह सकता है। उसमें चापलूसी जैसी कोई गुँजायश नहीं है। भगवान की किसी से निजी मित्रता है, न शत्रुता। वे नियमों से बँधे हैं। समदर्शी हैं।

हमारी व्यक्तिगत क्षमता सर्वथा नगण्य है। प्रायः जनसाधारण के समान ही उसे समझा जा सकता है। जो कुछ अतिरिक्त दीखता है या बन पड़ा है, उसे विशुद्ध दैवी अनुग्रह समझा जाना चाहिए। वह सीधा कम और मार्ग दर्शक के माध्यम से अधिक आता रहा है, पर इससे कुछ अंतर नहीं आता। धन बैंक का है। भले ही वह नकदी के रूप में, चैक, ड्राफ्ट आदि के माध्यम से मिला हो।

यह दैवी उपलब्धि किस प्रकार संभव हुई। इसका एक ही उत्तर है पात्रता का अभिवर्धन। उसी का नाम जीवन साधना है। उपासना के साथ उसका अनन्य एवं घनिष्ठ संबंध है। बिजली धातु में दौड़ती है, लकड़ी में नहीं। आग सूखे को जलाती है, गीले को नहीं। माता बच्चे को गोदी तब लेती है, जब वह साफ–सुथरा हो। मल, मूत्र से सना हो तो पहले उसे धोएगी, पोछेगी। इसके बाद ही गोदी में लेने और दूध पिलाने की बात करेगी। भगवान की समीपता के लिए शुद्ध चरित्र आवश्यक है। कई व्यक्ति पिछले जीवन में तो मलीन रहे हैं, पर जिस दिन से भक्ति की साधना अपनाई, उस दिन से अपना कायाकल्प कर लिया। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, बिल्वमंगल, अंजामिल आदि पिछले जीवन में कैसे ही क्यों न रहे हों, जिस दिन से भगवान की शरण में आए, उस दिन से सच्चे अर्थों में संत बन गए। हम लोग "राम–नाम जपना पराया माल अपना" की नीति अपनाते हैं। कुकर्म भी करते रहते हैं, पर साथ ही भजन–पूजन के सहारे उनके दंड से छूट मिल जाएगी, ऐसा सोचते रहते हैं। यह कैसी विडंबना है?

कपड़े को रंगने से पूर्व धोना पड़ता है। बीज बोने से पूर्व जमीन जोतनी पड़ती है। भगवान का अनुग्रह अर्जित करने के

लिए शुद्ध जीवन की आवश्यकता है। साधक ही सच्चे अर्थों में उपासक हो सकता है। जिससे जीवन साधना नहीं बन पड़ी, उसका चिंतन, चरित्र, आहार, विहार, मस्तिष्क अवाँछनीयताओं से भरा रहेगा। फलतः मन लगेगा ही नहीं। लिप्साएँ और तृष्णाएँ जिनके मन को हर घड़ी उद्विग्न किए रहती हैं, उससे न एकाग्रता सधेगी और न चित्त की तन्मयता आएगी। कर्मकांड की चिह्न पूजा भर से कुछ बात बनती नहीं। भजन का भावनाओं से सीधा संबंध है। जहाँ भावनाएँ होंगी, वहाँ मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव में सात्त्विकता का समावेश अवश्य करेगा।

सम्भ्रांत मेहमान घर में आते हैं, कोई उत्सव होते हैं, तो घर की सफाई पुताई करनी पड़ती है। जिस हृदय में भगवान को स्थान देना है, उसे कषाय–कल्मषों से स्वच्छ किया जाना चाहिए। इसके लिए आत्म–निरीक्षण आत्म–सुधार, आत्म–निर्माण और आत्म–विकास की चारों ही दिशा धाराओं में बढ़ना आवश्यक है। इन तथ्यों को हमें भली–भाँति समझाया गया। सच्चे मन से उसे हृदयंगम भी किया गया। सोचा गया कि आखिर गर्हित जीवन बनता क्यों है? निष्कर्ष निकाला कि इन सभी के उद्‌गम केंद्र तीन हैं–लोभ, मोह, अहंकार। जिसमें इनकी जितनी ज्यादा मात्रा होगी, वह उतना ही अवगति की ओर घिसटता चला जाएगा।

क्रियाएँ वृत्तियों से उत्पन्न होती है। शरीर मन के द्वारा संचालित होता है। मन में जैसी उमंगे उठती हैं, शरीर वैसी ही गतिविधियाँ अपनाने लगता है। इसलिए अवाँछनीय कृत्यों–दुष्कृत्यों के लिए शरीर को नहीं मन को उत्तरदायी समझा जाना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विष वृक्ष की जड़ काटना उपयुक्त समझा गया है और जीवन साधना को आधार भूत क्षेत्र मन से ही आरंभ किया गया।

देखा गया है कि अपराध प्रायः आर्थिक प्रलोभनों या आवश्यकताओं के कारण होते हैं। इसलिए उनकी जड़ें काटने के लिए औसत भारतीय स्तर का जीवन–यापन अपनाने का व्रत लिया गया। अपनी निज की कमाई कितनी ही क्यों न हो, भले ही वह ईमानदारी या परिश्रम की क्यों न हो, पर उसमें से अपने

लिए परिवार के लिए खर्च देशी हिसाब से किया जाए, जिससे कि औसत भारतीय गुजारा करना संभव हो। यह सादा जीवन उच्च विचार का व्यावहारिक निर्धारण है। सिद्धांततः कई लोग इसे पसंद करते हैं और उसका समर्थन भी, पर अपने निज के जीवन में इसका प्रयोग करने का प्रश्न आता है तो उसे असंभव कहने लगते हैं। ऐसा निर्वाह व्रतशील होकर ही निबाहा जा सकता है। साथ ही परिवार वालों को इसके लिए सिद्धांततः व्यवहारतः तैयार करना पड़ता है इस संदर्भ में सबसे बड़ी कठिनाई लोक प्रचलन की आती है। जब सभी लोग ईमानदारी–बेईमानी की कमाई से गुलछर्रे उड़ाते हैं, तो हम लोग ही अपने ऊपर ऐसा अंकुश क्यों लगाएँ? इस प्रश्न पर परिजनों और उनके पक्षधर रिश्तेदारों को सहमत करना बहुत कठिन पड़ता है। फिर भी यदि अपनी बात तर्क, तथ्य और परिणामों के सबूत देते हुए ठीक तरह प्रस्तुत की जा सके और अपने निज का मन दृढ़ हो तो फिर अपने समीपवर्ती लोगों पर कुछ भी असर न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। आर्थिक अनाचारों की जड़ काटनी है, तो वह कार्य इसी स्तर के लोक शिक्षण एवं प्रचलन से संभव होगा। उस विश्वास के साथ अपनी बात पर दृढ़ रहा गया। घीया मंडी मथुरा में अपना परिवार पाँच सदस्यों का था। तब उसका औसत खर्च १९७१ हरिद्वार जाने तक २०० रु. मासिक नियमित रूप से बनाए रखा गया। मिल–जुलकर, मितव्ययतापूर्वक लोगों से भिन्न अपना अलग स्तर बना लेने के कारण यह सब मजे से चलता रहा। यों आजीविका अधिक थी। पैतृक संपत्ति से पैसा आता था, पर उसका व्यय घर में अन्य संबंधी परिजनों के बच्चे बुलाकर उन्हें पढ़ाते रहने का नया दायित्त्व ओढ़कर पूरा किया जाता रहा। दुर्गुणों–दुर्व्यसनों के पनपने लायक पैसा बचने ही नहीं दिया गया और जीवन साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सरलतापूर्वक निभता रहा।

मोह परिवार को सजाने, सुसंपन्न बनाने, उत्तराधिकार में संपदा छोड़कर मरने का होता है। लोग स्वयं विलासी जीवन जीते हैं और वैसी ही आदतें बच्चों को भी डालते हैं। फलतः अपव्यय का सिलसिला चल पड़ता है और अनीति की कमाई के

लिए अनाचारों के विषय में सोचना और प्रयास करना होता है। दूसरों के पतन व अनुभवों से लाभ उठाया गया और उस चिंतन तथा प्रचलन का घर में प्रवेश नहीं होने दिया गया। इस प्रकार अपव्यय भी नहीं हुआ, दुर्गुण भी नहीं बढ़े, कुप्रचलन भी नहीं चला, सुसंस्कारी परिवार विकसित होता चला गया।

तीसरा पक्ष अहंता का है। शेखीखोरी, बड़प्पन, ठाट–बाट, सजधज, फैशन आदि में लोग ढेरों समय और धन खर्च करते हैं। निजी जीवन तथा परिवार में नम्रता और सादगी का ऐसा ब्राह्मणोचित माहौल बनाए रखा गया कि अहंकार के प्रर्दशन की कोई गुँजायश नहीं थी। हाथ से घरेलू काम करने की आदत अपनाई गई। माताजी ने मुद्दतों हाथ से चक्की पीसी है। घर का तथा अतिथियों का भोजन तो वे मुद्दतों बनाती रही हैं। घरेलू नौकर की आवश्यकता तो तब पड़ी जब बाहरी कामों का असाधारण विस्तार होने लगा और उनमें व्यस्त रहने के कारण माताजी का उसमें समय दे सकना संभव नहीं रह गया।

यह अनुमान गलत निकला कि ठाट–बाट से रहने वालों को बड़ा आदमी समझा जाता है और गरीबी से गुजारा करने वाले उद्विग्न, अभागे, पिछड़े पाए जाते हैं। हमारे संबंध में यह बात कभी लागू नहीं हुई। आलस्य और अयोग्यतावश गरीबी अपनाई गई होती, तो अवश्य वैसा होता, पर स्तर उर्पाजन योग्य होते हुए भी यदि सादगी का हर पक्ष स्वेच्छापूर्वक अपनाया गया है, तो उसमें सिद्धांतों का परिपालन ही लक्षित होता है। जो भी अतिथि आए, जिन भी मित्र संबंधियों को रहन–सहन का पता चलता रहा, उनमें से किसी ने भी इसे दरिद्रता नहीं कहा, वरन् ब्राह्मण परंपरा का निर्वाह ही माना। मिर्च न खाने, खड़ाऊ पहनने जैसे एकाध नियम सादगी के नाम पर अपनाकर लोग सात्त्विकता का विज्ञापन भर करते हैं। वस्तुतः आध्यात्मिकता निभती है सर्वतोमुखी संयम और अनुशासन से। उसमें समग्र जीवनचर्या को ब्राह्मण जैसी बनाना एवं अभ्यास में उतारने के लिए सहमत करना होता है। यह लंबे समय की और क्रमिक साधना है। हमने इसके लिए अपने को साधा और जो भी अपने साथ जुड़े रहे उन्हें यथासंभव सधाया।

सचिंत कुसंस्कारों का दौर हर किसी पर चढ़ता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर अपनी उपस्थिति देते रहे पर उन्हें उभरते ही दबोच लिया गया। बेखबर रहने, दर–गुजर करने से ही वे पनपते और कब्जा जमाने में सफल होते। वैसा अवसर जब–जब आया उन्हें खदेड़ दिया गया। गुण, कर्म, स्वभाव तीनों पर ध्यान रखा गया कि इसमें साधक के अनुसार सात्त्विकता का समावेश है या नहीं। संतोष की बात है कि इस आंतरिक महाभारत को जीवन भर लड़ते रहने के कारण अब चलते समय अपने को विजयी घोषित कर सके।

जन्मत: सभी अनगढ़ होते हैं। जन्म–जन्मांतरों के कुसंस्कार सभी पर न्यूनाधिक मात्रा में लदे होते हैं। वे अनायास ही हट या भग नहीं जाते। गुरु कृपा या पूजा–पाठ से भी वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उनके समाधान का एक ही उपाय है–जूझना। जैसे ही कुविचार उठें, उनके प्रतिपक्षी सद्विचारों की सेना को पहले ही प्रशिक्षित, कटिबद्ध रखा जाए और विरोधियों से लड़ने को छोड़ दिया जाए। जड़ जमाने का अवसर न मिले तो कुविचार या कुसंस्कार बहुत समय तक ठहरते नहीं। उनकी सामर्थ्य स्वल्प होती है। वे आदतें और प्रचलनों पर निर्भर रहते हैं, जबकि सद्विचारों के पीछे तर्क, तथ्य, प्रमाण, विवेक आदि अनेकों का मजबूत समर्थन रहता है। इसलिए शास्त्रकार की उक्ति ऐसे अवसरों पर सर्वथा खरी उतरती है, जिनमें कहा गया है कि ''सत्य ही जीतता है, असत्य नहीं।'' इसी बात को यों भी कहा जाता है कि ''परिपक्व किए गए सुसंस्कार ही जीतते हैं, आधार रहित कुसंस्कार नहीं।'' जब सरकस के रीछ–वानरों को आश्चर्यजनक कौतुक, कौतूहल दिखाने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि अनगढ़ मन और जीवन क्रम को संकल्पवान साधनों के हंटर से सुसंस्कारी न बनाया जा सके।

आराधना जिसे निरंतर अपनाए रहा गया

गंगा, यमुना, सरस्वती के मिलने से त्रिवेणी संगम बनने और उसमें स्नान करने वाले का काया–कल्प होने की बात कही गई है। बगुले का हंस और कौए का कोयल आकृति से

बदल जाना तो संभव नहीं है, पर इस आधार पर विनिर्मित हुई अध्यात्म धारा का अवगाहन करने से मनुष्य का अंतरंग और बहिरंग जीवन असाधारण रूप से बदल सकता है, यह निश्चित है। यह त्रिवेणी उपासना, साधना और आराधना के समन्वय से बनती है। यह तीनों कोई क्रियाकांड नहीं हैं जिन्हें इतने समय में, इस विधि से, इस प्रकार बैठकर संपन्न करते रहा जा सके। यह चिंतन, चरित्र और व्यवहार में होने वाले उच्चस्तरीय परिवर्तन हैं, जिनके लिए अपनी शारीरिक और मानसिक गतिविधियों पर निरंतर ध्यान देना पड़ता है। दुरितों के संशोधन में प्रखरता का उपयोग करना पड़ता है और नई विचारधारा में अपने गुण, कर्म, स्वभाव को इस प्रकार अभ्यस्त करना पड़ता है जैसे अनगढ़ पशु–पक्षियों को सरकस के करतब दिखाने के लिए जिस तिस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है। पूजा कुछ थोड़े समय की हो सकती है, पर साधना तो ऐसी है, जिसके लिए गोदी के बच्चे को पालने के लिए निरंतर ध्यान रखना पड़ता है। फलवती भी वही होती है। जो लोग पूजा को बाजीगरी समझते हैं और जिस–तिस प्रकार के क्रिया–कृत्य करने भर के बदले ऋद्धि–सिद्धियों के दिवास्वप्न देखते हैं, वे भूल करते हैं।

हमारे मार्गदर्शक ने प्रथम दिन ही त्रिपदा गायत्री का व्यवहार, स्वरूप–उपासना, साधना, आराधना के रूप में भली प्रकार बता दिया था, नियमित जप–ध्यान करने का अनुबंधों सहित पालन करने के निर्देश के अतिरिक्त यह भी बताया था कि चिंतन में उपासना, चरित्र में साधना और व्यवहार में आराधना का समावेश करने में पूरी–पूरी सतर्कता और तत्परता बरती जाए। उस निर्देशन का आद्यावधि यथासंभव ठीक तरह ही परिपालन हुआ है। उसी के कारण अध्यात्म–अवलंबन का प्रतिफल इस रूप में सामने आया कि उसका सहज उपहास नहीं उड़ाया जा सकता।

आराधना का अर्थ है–लोकमंगल में निरत रहना। जीवन साधना प्रकारांतर से संयम साधना है। उसके द्वारा न्यूनतम में निर्वाह चलाया और अधिकतम बचाया जाता है। समय, श्रम, धन और मन मात्र इतनी ही मात्रा का शरीर तथा परिवार के

लिए खर्च करना पड़ता है, जिसके बिना काम न चले। काम न चलने की कसौटी है–औसत देशवासियों का स्तर। इस कसौटी पर कसने के उपरांत किसी भी श्रमशीलता और शिक्षित व्यक्ति का उपार्जन इतना हो जाता है कि काम चलाने के अतिरिक्त भी बहुत कुछ बच सके। इसी के सदुपयोग को आराधना कहते हैं। आमतौर से लोग इस बचत को विलास में, अपव्यय में अथवा कुटुंबियों में बिखेर देते हैं। उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि इस संसार में और भी कोई अपने हैं, औरों की भी कुछ जरूरते हैं। यदि दृष्टि में इतनी विशालता आई होती, तो उस बचत को ऐसे कार्यों में खर्च किया गया होता जिससे अनेकों का वास्तविक हित साधन होता और समय की माँग पूरी होने में सहायता मिलती।

ईश्वर का एक रूप साकार है, जो ध्यान धारणा के लिए अपनी रूचि और मान्यता के अनुरूप गढ़ा जाता है। यह मनुष्य से मिलती–जुलती आकृति–प्रकृति का होता है। यह गठन उस प्रयोजन के लिए है तो उपयोगी, आवश्यक किंतु साथ ही यह ध्यान रखने योग्य भी है कि वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। ईश्वर एक है, उसकी इतनी आकृतियाँ नहीं हो सकतीं, जितनी कि भिन्न–भिन्न संप्रदायों में गढ़ी गई हैं। उपयोग मन की एकाग्रता का अभ्यास करने तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। प्रतिमा पूजन के पीछे आद्योपांत प्रतिपादन इतना ही है कि दृश्य प्रतीक को माध्यम से अदृश्य दर्शन और प्रतिपादन को समझने हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाए।

सर्वव्यापी ईश्वर निराकार हो सकता है। उसे परमात्मा कहा गया है। परमात्मा अर्थात आत्माओं का परम समुच्चय। इसे आदर्श का एकाकार कहने में भी हर्ज नहीं। यही विराट ब्रह्म या विराट विश्व है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को अपने इसी रूप का दर्शन कराया था। राम ने कौशल्या तथा कागभुशुंडि को इसी रूप को झलक के रूप में दिखाया था और प्राणियों को उनका दृश्य स्वरूप। इसी मान्यता के अनुसार यह लोक सेवा ही विराट ब्रह्म की आराधना बन जाती है। विश्व उद्यान को सुखी–समुन्नत बनाने के लिए ही परमात्मा ने बहुमूल्य जीवन

देकर अपने युवराज की तरह यहाँ भेजा है। इसकी पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता है। इसी मार्ग का अधिक श्रद्धापूर्वक अवलंबन करने से अध्यात्म उत्कर्ष का वह प्रयोजन सधता है, जिसे आराधना कहा गया है।

हम करते रहे हैं। सामान्य दिनचर्या के अनुसार रात्रि में शयन, नित्य कर्म के अतिरिक्त दैनिक उपासना भी उन्हीं बारह घंटों में भली प्रकार संपन्न होती रही है। बारह घंटे इन तीनों कर्मों के लिए पर्याप्त रहे हैं। चार घंटा प्रातःकाल का भजन इसी अवधि में होता रहा है। शेष आठ घंटे में नित्य कर्म और शयन इसमें शयन की कोताही कहीं नहीं पड़ी। आलस्य–प्रमाद बरतने पर तो पूरा समय ही ऐंड–बेंड में चला जाता है, पर एक–एक मिनट पर घोड़े की तरह सवार रहा जाए, तो प्रतीत होता है कि जागरूक व्यक्तियों ने इसी में तत्परता बरतते हुए वे कार्य कर लिए होते जितने के लिए साथियों को आश्चर्य चकित रहना पड़ता है।

यह रात्रि का प्रसंग हुआ, अब दिन आता है। उसे भी मोटे रूप में बारह घंटे का माना जा सकता है। इसमें से दो घंटे भोजन, विश्राम, के लिए कट जाने पर दस घंटे विशुद्ध बचत के रह जाते हैं। इनका उपयोग परमार्थ प्रयोजनों की लोकमंगल आराधना में नियमित रूप से होता रहा है। संक्षेप में इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है। १–जनमानस के परिष्कार के लिए युग चेतना के अनुरूप विचारणा का निर्धारण–साहित्य सृजन, २–संगठन–प्राणवान जागृत आत्माओं को युग धर्म के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाने के लिए उत्तेजना मार्गदर्शन, ३–व्यक्तिगत कठिनाइयों में से निकलने तथा सुखी भविष्य विनिर्मित करने हेतु परामर्श योगदान। हमारी सेवा साधना इन तीन विभागों में बँटी है। इनमें दूसरी और तीसरी धारा के लिए असंख्य व्यक्तियों से संपर्क साधना और पाना चलता रहा है। इनमें से अधिकांश को प्रकाश और परिवर्तन का अवसर मिला है। इनके नामोल्लेख और घटनाक्रमों का विवरण संभव नहीं। क्योंकि एक तो जिनकी सहायता की जाए, इनका स्मरण भी रखा जाए। यह अपनी आदत नहीं, फिर उनकी संख्या और विनिर्मित उतनी है कि

जितने स्मरण है उनके वर्णन से ही एक महापुराण लिखा जा सकता है। फिर उनको आपत्ति भी हो सकती है। इन दिनों कृतज्ञता व्यक्त करने का प्रचलन समाप्त हो गया। दूसरों की सहायता को महत्त्व कम दिया। अपने भाग्य या पुरुषार्थ का ही बखान किया जाए। दूसरों की सहायता के उल्लेख में हेटी लगती है। ऐसी दशा में अपनी ओर से उन घटनाओं का उल्लेख करना जिसमें लोगों के कष्ट घटें या प्रगति के अवसर मिलें, उचित न होगा। फिर एक बात भी है कि बखान करने के बाद पुण्य घट जाता है। इतने व्यवधानों के रहते उस प्रकार की घटनाओं के संबंध में मौन धारण करना ही उपयुक्त समझा जा रहा है और कुछ न कह कर ही प्रसंग समाप्त किया जा रहा है।

इतने पर भी वे सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक प्रज्ञा परिवार से प्रायः २४ लाख से भी अधिक व्यक्ति संबंधित हैं। उनमें से जो मात्र सिद्धांतों, आदर्शों से प्रभावित होकर इस ओर आकर्षित हुए हैं, वे कम हैं। संख्या उनकी ज्यादा है, जिनने व्यक्तिगत जीवन में प्रकाश, दुलार, सहयोग, परामर्श एवं अनुदान प्राप्त किया है। ऐसे प्रसंग मनुष्य के अंतराल में स्थान बनाते हैं। विशेषतया तब जब सहायता करने वाला अपनी प्रामाणिकता एवं निस्वार्थता की दृष्टि से हर कसौटी पर खरा उतरता हो। संपर्क परिकर में मुश्किल से आधे तिहाई ऐसे होंगे, जिन्हें मिशन के आदर्शों और हमारे प्रतिपादनों का गंभीरतापूर्वक बोध है। शेष तो हैरानियों में दौड़ते और जलती परिस्थितियों में शांतिदायक अनुभूतियाँ लेकर वापस लौटते रहे हैं। यही कारण है जिससे इतना बड़ा परिकर बनकर खड़ा हो गया। अन्यथा मात्र सिद्धांत पर ही सब कुछ हो रहा होता, तो आर्यसमाज, सर्वोदय की तरह सीमित सदस्य होते और व्यक्तिगत आत्मीयता घनिष्ठता का जो वातावरण दीखता है, वह न दीखता। आगंतुकों की संख्या अधिक, समय-कुसमय आगमन, ठहराने भोजन कराने जैसी व्यवस्थाओं का अभाव जैसे कारणों से इस दबाव का सर्वाधिक भार माताजी को सहन करना पड़ा है, पर उस असुविधा के बदले जितनों की जितनी आत्मीयता अर्जित की है, उसे देखते हुए हम लोग धन्य हो गए हैं। लगता है, जो किया

गया वह ब्याज समेत वसूल होता रहा है। पैसे की दृष्टि से न सही भावना की दृष्टि से भी यदि कोई कुछ कम ले, तो उसके लिए घाटे का सौदा नहीं समझा जाना चाहिए।

आराधना के लिए, लोकमंगल साधना के लिए, गिरह की पूँजी चाहिए। उसके बिना भूखा क्या खाए? क्या बाँटे? यह पूँजी कहाँ से आई? कहाँ से जुटाई? इसके लिए मार्गदर्शक ने पहले ही दिन कहा था–जो पास में है, उसे बीज की तरह भगवान के खेत में बोना सीखो? उसे जितनी बार बोया गया, सौ गुना होता चला गया अभीष्ट प्रयोजन में कभी किसी बात की कमी न पड़ेगी। उन्होंने बाबा जलाराम का उदाहरण दिया था, जो किसान थे, अपने पेट से बचने वाली सारी आमदनी जरूरत मंदों को खिलाते थे। भगवान इस सच्ची साधना से अतिशय प्रसन्न हुए और एक ऐसी अक्षय झोली दे गए, जिसका अन्न कभी निपटा ही नहीं और अभी भी वीरपुर (गुजरात) में उनका अन्न सत्र चलता रहता है, जिसमें हजारों भक्तजन प्रतिदिन भोजन करते हैं। जो अपना लगा देता है, उसे बाहर का सहयोग बिना माँगे मिलता है, पर जो अपनी पूँजी सुरक्षित रखता है, दूसरों से माँगता फिरता है, उस चंदा उगाहने वाले पर लोग व्यंग्य ही करते रहते हैं और यत्किंचित देकर पल्ला छुड़ाते रहते हैं।

गुरुदेव के निर्देशन में अपनी चारों ही संपदाओं को भगवान के चरणों में अर्पित करने का निश्चय किया। १–शारीरिक श्रम, २–मानसिक श्रम, ३–भाव संवेदनाएँ, ४–पूर्वजों का उपार्जित धन। अपना कमाया तो कुछ था ही नहीं। चारों को अनन्य निष्ठा के साथ निर्धारित लक्ष्य के लिए लगाते चले आए हैं। फलतः सचमुच ही वे सौ गुने होकर वापस लौटते रहे हैं। शरीर से बाहर घंटा नित्य श्रम किया है। इससे थकान नहीं आई। वरन् कार्य क्षमता बढ़ी ही है। इन दिनों इस बुढ़ापे में भी जवानों जैसी कार्य क्षमता है। मानसिक श्रम भी शरीरिक श्रम के साथ सँजोए रखा। उसकी परिणति यह है कि मनोबल में–मस्तिष्कीय क्षमता में कहीं कोई ऐसे लक्षण प्रकट नहीं हुए जैसे कि आमतौर से बुढ़ापे में प्रकट होते हैं। हमने खुलकर प्यार

बाँटा और बिखेरा है। फलस्वरूप दूसरी ओर से भी कमी नहीं रही है, व्यक्तिगत स्नेह, सम्मान, सद्भाव ही नहीं, मिशन के लिए जब–जब, जो–जो अपील, अनुरोध प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, उनमें कमी नहीं पड़ी है। २४०० प्रज्ञापीठों का दो वर्ष में बनकर खड़े हो जाना इसका जीवंत उदाहरण है। आरंभ में मात्र अपना ही धन था। पैतृक संपत्ति से ही गायत्री तपोभूमि का निर्माण हुआ। जन्मभूमि में हाईस्कूल खड़ा किया गया, बाद में एक और शक्तिपीठ वहाँ विनिर्मित हो गया। आशा कम ही थी कि लोग बिना माँगे देंगे और निर्माण का इतना बड़ा स्वरूप खड़ा हो जाएगा। आज गायत्री तपोभूमि, शांतिकुंज गायत्री तीर्थ, ब्रह्मवर्चस् की इमारतों को देखकर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बोया हुआ बीज सौ गुना होकर फलता है या नहीं। यह श्रद्धा का अभाव ही है, जिसमें लोग अपना संचय बगल में दबाए रखना चाहते हैं, भगवान से लाटरी अथवा लोगों से चंदा माँगते हैं। यदि बात आत्मसमर्पण से प्रारंभ की जा सके तो उसका आश्चर्यजनक परिणाम होगा। विनिर्मित गायत्री शक्ति पीठों में से जूनागढ़ के निर्माता ने अपने बर्तन बेचकर कार्य आरंभ किया था और वही अब तक विनिर्मित, सभी इमारतों में मूर्धन्यों में से एक है।

बाजरे का–मक्का का एक दाना सौ दाने होकर पकता है। यह उदाहरण हमने अपनी संचित संपदा के उत्सर्ग करने जैसा दुस्साहस करने में देखा। जो था, वह परिवार के लिए उतनी ही मात्रा में, उतनी ही अवधि तक दिया, जब तक कि वे लोग हाथ पैरों से कमाने–खाने लायक नहीं बन गए। उत्तराधिकार में समर्थ संतान हेतु संपदा छोड़ मरना, अपना श्रम मनोयोग उन्हीं के लिए खपाते रहना हमने सदा अनैतिक माना और विरोध किया है। फिर स्वयं वैसा करते भी कैसे? मुफ्त की कमाई हराम की होती है, भले ही वह पूर्वजों की खड़ी की हुई हो। हराम की कमाई न पचती है, न फलती है। इस आदर्श पर परिपूर्ण विश्वास रखते हुए हमने शारीरिक श्रम, मनोयोग, भाव संवेदना और संग्रहीत धन की चारों संपदाओं में से किसी को भी कुपात्रों के हाथ नहीं जाने दिया है। उसका एक–एक कण

सज्जनता के संबर्धन में, भगवान के आराधन में लगाया है। परिणाम सामने है। जो पास में था, उससे अगणित लाभ उठा चुके। यदि कृपणों की तरह उन उपलब्धियों को विलास में, लालच में, संग्रह में, परिवार वालों को धन–कुबेर बनाने में खर्च किया होता, तो वह सब कुछ बेकार चला जाता। कोई महत्त्वपूर्ण काम न बनता वरन् जो भी उस मुफ्त के श्रम साधन का उपयोग करते वे दुर्गुण, दुर्व्यसनी बनकर नफे में नहीं, घाटे में ही रहते।

कितने पुण्य फल ऐसे हैं, जिनके सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, पर लोक साधना का परमार्थ ऐसा है, जिसका प्रतिफल हाथों–हाथ मिलता है। किसी दुखी के आँसू पोंछते समय असाधारण आत्म–संतोष होता है। कोई बदला न चुका सके, तो भी उपकारी का मन ही मन सम्मान करता है, आशीर्वाद देता है, इसके अतिरिक्त और एक ऐसा दैवी विधान जिसके अनुसार उपकारी का भंडार खाली नहीं होता, उस पर ईश्वरीय अनुग्रह बरसता रहता है और जो खर्चा गया है, उसकी भरपाई करता रहता है।

भेड़ ऊन कटाती रहती है, हर वर्ष उसे नई ऊन मिलती है। पेड़ फल देते हैं, अगली बार टहनियाँ फिर उसी तरह लद जाती हैं। बादल बरसते हैं, पर खाली नहीं होते। अगले दिनों वे फिर उतनी ही जल संपदा बरसाने के लिए समुद्र से प्राप्त कर लेते हैं। उदारचेत्ताओं के भंडार कभी खाली नहीं हुए। किसी ने कुपात्रों को अपना श्रम–समय देकर भ्रमवश दुष्प्रवृत्तियों का पोषण किया हो और उसे भी पुण्य समझा हो तो फिर बात दूसरी है। अन्यथा लोक साधना के परमार्थ का प्रतिफल ऐसा है, जो हाथों–हाथ मिलता है। आत्मसंतोष, लोक सम्मान, दैवी अनुग्रह के रूप में तीन गुना सत्परिणाम प्रदान करने वाला व्यवसाय ऐसा है, जिसमें जिसने भी हाथ डाला कृतकृत्य होकर रहा है। कृपण ही हैं, जो चतुरता का दम भरते किंतु हर दृष्टि से घाटा उठाते हैं।

लोक साधना का महत्त्व तब घटता है, जब उसके बदले नामवरी लूटने की ललक होती है। यह तो अखबारों में इश्तहार छपा कर विज्ञापन बाजी करने जैसा व्यवसाय है। एहसान

जताने और बदला चाहने से भी पुण्यफल नष्ट होता है। दोस्तों के दबाव से किसी भी काम के लिए चंदा दे बैठने से भी दान की भावना पूर्ण नहीं होती। देखा यह जाना चाहिए कि इस प्रयास के फलस्वरूप सद्भावनाओं का संबर्धन होता है या नहीं, सत्प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने में जो कार्य सहायक हों उन्हीं की सार्थकता है। अन्यथा मुफ्तखोरी बढ़ाने और छल प्रपंच से भोले भाले लोगों को लूटते खाते रहने के लिए इन दिनों अगणित आडंबर चल पड़े हैं। उनमें धन या सम्मान देने से पूर्व हजार बार यह विचार करना चाहिए कि अपने प्रयत्नों की अंतिम परिणति क्या होगी? इस दूरदर्शी विवेकशीलता का अपनाया जाना इन दिनों विशेष रूप से आवश्यक है। हमने ऐसे प्रसंगों में स्पष्ट इनकारी भी व्यक्त की है। औचित्य-सनी उदारता के साथ-साथ अनौचित्य की गंध अपनाने पर अनुदारता अपनाने और नाराजी का खतरा लेने का साहस किया है। आराधना में इन तथ्यों का समावेश भी नितांत आवश्यक है।

उपरोक्त तीनों प्रसंगों में हमारे जीवन दर्शन की एक झलक मिलती है। यह वह मार्ग है, जिस पर सभी महामानव चले एवं लक्ष्य प्राप्ति में सफल हो यश के भागी बने हैं। किसी प्रकार के ''शार्ट कट'' का इसमें कोई स्थान नहीं है।

तीसरी हिमालय यात्रा–ऋषि परंपरा का बीजारोपण

मथुरा का कार्य सुचारु रूप से चल पड़ने के उपरांत हिमालय से तीसरा बुलावा आया, जिसमें अगले चौथे कदम को उठाए जाने का संकेत था। समय भी काफी हो गया था। इस बार कार्य का दबाव अत्यधिक रहा और सफलता के साथ–साथ थकान बढ़ती गई थी। ऐसी परिस्थितियों में बैटरी चार्ज करने का यह निमंत्रण हमारे लिए बहुत ही उत्साहवर्धक था।

निर्धारित दिन प्रयाण आरंभ हो गया। देखे हुए रास्ते को पार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फिर मौसम भी ऐसा रखा गया था जिसमें शीत के कड़े प्रकोप का सामना न करना पड़ता और एकाकीपन की प्रथम बार जैसी कठिनाई न पड़ती। गोमुख पहुँचने पर गुरुदेव के छाया पुरुष का मिलना और अत्यंत सरलतापूर्वक नंदन वन पहुँचा देने का क्रम पिछली बार जैसा ही रहा। सच्चे आत्मीयजनों का पारस्परिक मिलन कितना आनंद–उल्लास भरा होता है, इसे भुक्त–भोगी ही जानते हैं। रास्ते भर जिस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी वह आखिर आ ही गई। अभिवादन आशीर्वाद का क्रम चला और पीछे बहुमूल्य मार्गदर्शन का सिलसिला चल पड़ा।

अब की बार मथुरा छोड़कर हरिद्वार डेरा डालने का निर्देश मिला और कहा गया कि "वहाँ रहकर ऋषि परंपरा को पुनर्जीवित करने का कार्य आरंभ करना है। तुम्हें याद हैं न, जब यहाँ प्रथम बार आए थे और हमने सूक्ष्म शरीरधारी इस क्षेत्र के ऋषियों का दर्शन कराया था। हर एक ने उनकी परंपरा लुप्त

हो जाने पर दुःख प्रकट किया था और तुमने यह वचन दिया था कि इस कार्य को भी संपन्न करोगे। इस बार उसी निमित्त बुलाया गया है।

भगवान अशरीरी है। जब कभी उन्हें महत्त्वपूर्ण कार्य कराने होते हैं,तो ऋषियों के द्वारा कराते हैं। महापुरुषों को वे बनाकर खड़े कर देते हैं। स्वयं तप करते हैं और अपनी शक्ति देवात्माओं को देकर बड़े काम करा लेते हैं। भगवान राम को विश्वामित्र अपने यहाँ रक्षा के बहाने ले गए और वहाँ बला–अतिबला विद्या (गायत्री और सावित्री) की शिक्षा देकर उनके द्वारा असुरता का दुर्ग ढहाने तथा रामराज्य, धर्मराज्य की स्थापना का कार्य कराया था। कृष्ण भी संदीपन ऋषि के आश्रम में पढ़ने गए थे और वहाँ से गीता गायन, महाभारत निर्णय तथा सुदामा ऋषि की कार्य पद्धति को आगे बढ़ाने का निर्देशन लेकर वापस लौटे थे। समस्त पुराण इसी उल्लेख से भरे पड़े हैं कि ऋषियों के द्वारा महापुरुष उत्पन्न किए गए और उनकी सहायता से महान कार्य संपादित कराए गए। स्वयं तो वे शोध प्रयोजनों में और तप साधनाओं में संलग्न रहते ही थे। इसी कार्य को तुम्हें अब पूरा करना है।'

''गायत्री के मंत्र द्रष्टा विश्वामित्र थे। उन्होंने सप्त सरोवर नामक स्थान पर रहकर गायत्री की पारंगता प्राप्त की थी, वही स्थान तुम्हारे लिए भी नियत है। उपयोगी स्थान तुम्हें सरलतापूर्वक मिल जाएगा। उसका नाम शांतिकुंज गायत्री तीर्थ रखना और उन सब कार्यों का बीजारोपण करना जिन्हें पुरातन काल के ऋषिगण स्थूल शरीर से करते रहे हैं। अब वे सूक्ष्म शरीर में हैं। इसलिए अभीष्ट प्रयोजनों के लिए किसी शरीरधारी को माध्यम बनाने की आवश्यकता पड़ रही है। हमें भी तो ऐसी आवश्यकता पड़ी और तुम्हारे स्थूल शरीर को इसके लिए सत्पात्र देखकर संपर्क बनाया और अभीष्ट कार्यक्रमों में लगाया। यही इच्छा इन सभी ऋषियों की है। तुम उनकी परंपराओं का नए सिरे से बीजारोपण करना। उन कार्यों में अपेक्षाकृत भारीपन रहेगा और कठिनाई भी अधिक रहेगी, किंतु साथ ही एक अतिरिक्त लाभ भी है कि हमारा ही नहीं, उन सबका भी संरक्षण और अनुदान

तुम्हें मिलता रहेगा। इसलिए कोई कार्य रुकेगा नहीं।''

जिन ऋषियों के छोड़े कार्य को हमें आगे बढ़ाना था, उनका संक्षिप्त विवरण बताते हुए उन्होंने कहा–विश्वामित्र परंपरा में गायत्री महामंत्र की शक्ति से जन–जन को अवगत कराना एवं एक सिद्ध पीठ–गायत्री तीर्थ का निर्माण करना है। व्यास परंपरा में आर्ष साहित्य के अलावा अन्यान्य पक्षों पर साहित्य सृजन एवं प्रज्ञा पुराण के १८ खंडों को लिखने का, पातंजलि परंपरा में–योग साधना के तत्त्वज्ञान के विस्तार का, परशुराम परंपरा में अनीति उन्मूलन हेतु जन–मानस के परिष्कार के वातावरण निर्माण का तथा भागीरथ परंपरा में ज्ञान गंगा को जन–जन तक पहुँचाने का दायित्त्व सौंपा गया। चरक परंपरा में वनौषधि पुनर्जीवन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान, याज्ञवल्क्य परंपरा में यज्ञ से मनोविकारों के शमन द्वारा समग्र चिकित्सा पद्धति का निर्धारण, जमदग्नि परंपरा में साधना आरण्यक का निर्माण एवं संस्कारों का बीजारोपण, नारद परंपरा में सत्परामर्श–परिब्रज्या के माध्यम से धर्म चेतना का विस्तार, आर्यभट्ट परंपरा में धर्मतंत्र के माध्यम से राजतंत्र का मार्गदर्शन, शंकराचार्य परंपरा में स्थान–स्थान पर प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण का, पिप्लाद परंपरा में आहार–कल्प के माध्यम से समग्र स्वास्थ्य संवर्धन एवं सूत–शौनिक परंपरा में स्थान–स्थान पर प्रज्ञा योजनों द्वारा लोक शिक्षण की रूपरेखा के सूत्र हमें बताए गए। अथर्ववेदीय विज्ञान परंपरा में कणाद ऋषि प्रणीत वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति के आधार पर ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की रूपरेखा बनी।

हरिद्वार रहकर हमें क्या करना है और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का समाधान कैसे करना है ? यह ऊपर बताए निर्देशों के अनुसार हमें विस्तारपूर्वक बता दिया गया। सभी बातें पहले की ही तरह गाँठ बाँध लीं। पिछली बार मात्र गुरुदेव अकेले की ही इच्छाओं की पूर्ति का कार्य भार था। अबकी बार इतनों का बोझ लादकर चलना पड़ेगा। गधे को अधिक सावधानी रखनी पड़ेगी और अधिक मेहनत भी करनी पड़ेगी।

साथ ही इतना सब कर लेने पर चौथी बार आने और उससे भी बड़ा उत्तरदायित्त्व संभालने तथा सूक्ष्म शरीर अपनाने का कदम बढ़ाना पड़ेगा। यह सब इस बार उनने स्पष्ट नहीं किया, मात्र संकेत ही दिया।

यह भी बताया कि "हरिद्वार की कार्य पद्धति मथुरा के कार्यक्रम से बड़ी है। इसलिए उतार-चढ़ाव भी बहुत रहेंगे। असुरता के आक्रमण भी सहने पड़ेंगे, आदि-आदि बातें उन्होंने पूरी तरह समझा दीं। समय की विषमता को देखते हुए उस क्षेत्र में अधिक रुकना उन्हें उचित न लगा और एक वर्ष के स्थान पर छः महीने रहने का ही निर्देश दिया। कहाँ, किस प्रकार रहना और किस दिनचर्या का निर्वाह करना, यह उनने समझाकर बात समाप्त की और पिछली बार की भाँति ही अंतर्ध्यान होते हुए चलते-चलते यह कह गए कि "इस कार्य को सभी ऋषियों का सम्मिलित कार्य समझना, मात्र हमारा नहीं।" हमने भी विदाई का प्रणाम करते हुए इतना ही कहा कि "हमारे लिए आप ही समस्त देवताओं के समस्त ऋषियों के और परब्रह्म के प्रतिनिधि हैं। आपके आदेश को इस शरीर के रहते टाला न जाएगा।"

बात समाप्त हुई। हम विदाई लेकर चल पड़े। छाया पुरुष (वीरभद्र) ने गोमुख तक पहुँचा दिया। आगे अपने पैरों से बताए हुए स्थान के लिए चल पड़े।

जिन-जिन स्थानों पर इन यात्राओं में हमें ठहरना पड़ा, उनका उल्लेख यहाँ इसलिए नहीं किया गया कि वे सभी दुर्गम हिमालय में गुफाओं के निवासी थे। समय-समय पर स्थान बदलते रहते थे। अब तो उनके शरीर भी समाप्त हो गए। ऐसी दशा में उल्लेख की आवश्यकता न रही।

लौटते हुए हरिद्वार उसी स्थान पर रुके, सप्त ऋषियों की तपोभूमि में जिस स्थान का संकेत गुरुदेव ने किया था। काफी हिस्सा सुनसान पड़ा था और बिकाऊ भी था। जमीन पानी उगलती थी। पहले यहाँ गंगा बहती थी, यह स्थान सुहाया भी। जमीन के मालिक से चर्चा हुई और शेष जमीन का सौदा आसानी से पट गया। उसे खरीदने में लिखा-पढ़ी कराने में

विलंब न हुआ। जमीन मिल जाने के उपरांत यह देखना था कि वहाँ—कहाँ, क्या बनाना है? यह भी एकाकी ही निर्णय करना पड़ा। सलाहकारों का परामर्श काम न आया, क्योंकि उन्हें बहुत कोशिश करने पर भी यह नहीं समझाया जा सका कि यहाँ किस प्रयोजन के लिए किस आकार—प्रकार का निर्माण होना है। वह कार्य भी हमने पूरा किया। इस प्रकार शांतिकुंज, गायत्री तीर्थ की स्थापना हुई।

शांतिकुंज में गायत्री तीर्थ की स्थापना

मथुरा से प्रयाण के बाद हिमालय से ६ माह बाद ही हम हरिद्वार उस स्थान पर लौट आए, जहाँ निर्धारित स्थान पर शांतिकुंज के एक छोटे से भवन में माता जी व उनके साथ रहने वाली कन्याओं के रहने योग्य निर्माण हम पूर्व में करा चुके थे। अब और जमीन लेने के उपरांत पुनः निर्माण कार्य आरंभ किया। इच्छा ऋषि आश्रम बनाने की थी। सर्वप्रथम अपने लिए सहकर्मियों के लिए अतिथियों के लिए निवास स्थान और भोजनालय बनाया गया।

यह आश्रम ऋषियों का, देवात्मा हिमालय का प्रतिनिधित्त्व करता है। इसलिए उत्तराखंड का गंगा का प्रतीक देवालय यहाँ बनाया गया। इसके अतिरिक्त सात प्रमुख तथा अन्यान्य वरिष्ठ ऋषियों की प्रतिमाओं की स्थापना का प्रबंध किया गया। आद्य शक्ति गायत्री का मंदिर तथा जलकूपों का निर्माण कराया गया, प्रवचन कक्ष का भी। इस निर्माण में प्रायः दो वर्ष लग गए। अब निवास के योग्य आवश्यक व्यवस्था हो गई, तब हम और माता जी ने नवनिर्मित शांतिकुंज को अपनी तपःस्थली बनाया। साथ में अखंड दीपक भी था। उसके लिए एक कोठरी और गायत्री प्रतिमा की स्थापना करने के लिए सुविधा पहले ही बन चुकी थी।

इस बंजर पड़ी भूमि के प्रसुप्त पड़े संस्कारों को जगाने के लिए २४ अखंड पुरश्चरण कराए जाने थे। इसके लिए ९ कुमारियों का प्रबंध किया। प्रारंभ में चार घंटे दिन में, चार घंटे रात्रि में इनकी ड्यूटी थी। बाद में इनकी संख्या २७ हो गई तब समय कम कर दिया गया। इन्हें दिन में माताजी पढ़ाती थीं। छः

वर्ष उपरांत इन सबने ग्रेजुएट–पोस्टग्रेजुएट स्तर की पढ़ाई आरंभ कर दी। बीस और पच्चीस वर्ष की आयु के मध्य सबके सुयोग्य घरों और वरों के साथ विवाह कर दिए गए।

इसके पूर्व संगीत और प्रवचन का अतिरिक्त प्रशिक्षण क्रम भी चलाया गया। देश व्यापी नारी जागरण के लिए इन्हें मोटर गाड़ियों में पाँच–पाँच के जत्थे बनाकर भेजा गया। तब तक पढ़ने वाली कन्याओं की संख्या १०० से ऊपर हो गई थी। इनके दौरे का देश के नारी समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

हरिद्वार से ही तेजस्वी कार्यकर्त्ताओं को ढालने का कार्य हाथ में लिया गया। इसके लिए प्राण–प्रत्यावर्तन सत्र, एक–एक मास के युग शिल्पी सत्र एवं वानप्रस्थ सत्र भी लगाए गए। सामान्य उपासकों के लिए छोटे–बड़े गायत्री पुरश्चरणों की शृंखला भी चल पड़ी। गंगा का तट, हिमालय की छाया, दिव्य वातावरण, प्राणवान मार्ग दर्शन जैसी सुविधाओं को देखकर पुरश्चरणकर्त्ता भी सैकड़ों की संख्या में निरंतर आने लगे। पूरा समय देने वाले वानप्रस्थों का प्रशिक्षण भी अलग से चलता रहा। दोनों प्रकार के साधकों के लिए भोजन का प्रबंध किया गया।

यह नई संख्या निरंतर बढ़ती जाने लगी। ऋषि परंपरा को पुनर्जीवित करने के लिए इसकी आवश्यकता भी थी कि सुयोग्य आत्मदानी पूरा समय देकर हाथ में लिए हुए महान कार्य की पूर्ति के लिए आवश्यक आत्मबल संग्रह करें और उसके उपरांत व्यापक कार्यक्रम में जुट पड़ें।

बढ़ते हुए कार्य को देखकर गायत्री नगर में २४० क्वार्टर बनाने पड़े। एक हजार व्यक्तियों के प्रवचन में सम्मिलित हो सकने जितने बड़े आकार का प्रवचन हाल बनाना पड़ा। इस भूमि को अधिक संस्कारवान बनाना था। इसलिए नौ कुंड की यज्ञशाला में प्रातःकाल दो घंटे यज्ञ किए जाने की व्यवस्था की और आश्रम में स्थायी निवासियों तथा पुरश्चरण कर्त्ताओं का औसत जप इस अनुपात से निर्धारित किया गया कि हर दिन २४ लक्ष गायत्री महापुरश्चरण संपन्न होता रहे। आवश्यक कार्यों के लिए एक छोटा प्रेस भी लगाना

पड़ा। इन सब कार्यों के लिए निर्माण कार्य अब तक एक प्रकार से बराबर ही चलता रहा। इसी बीच ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के लिए भव्य भवन बनाना प्रारंभ कर दिया था। इस सारे निर्माण में प्रायः चार वर्ष लग गए। इसी बीच वे कार्य आरंभ कर दिए गए, जिन्हें संपन्न करने से ऋषि परंपरा का पुनर्जीवन हो सकता था। जैसे–जैसे सुविधा बनती गई, वैसे–वैसे नए कार्य हाथ में लिए गए और कहने योग्य प्रगति स्तर तक पहुँच गए।

भगवान बुद्ध ने नालंदा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय स्तर के विहार बनाए थे और उनमें प्रशिक्षित करके कार्यकर्त्ता देश के कोने–कोने में तथा विदेशों में भेजे गए थे। धर्मचक्र प्रवर्तन की योजना तभी पूरी हो सकी थी।

भगवान् आद्य शंकराचार्य ने देश के चार कोनों पर चार धाम बनाए थे और उनके माध्यम से देश में फैले हुए अनेक मत–मतांतरों को एक सूत्र में पिरोया था। दोनों ने अपने–अपने कार्यक्षेत्रों में एक कुंभ स्तर के बड़े सम्मेलन, समारोहों की व्यवस्था की थी, ताकि जो ऋषियों के मुख्य–मुख्य संदेश हों, वे आगंतुकों द्वारा घर–घर पहुँचाए जा सकें।

इन दोनों के ही क्रिया–कलापों को हाथ में लिया गया। निश्चय किया गया कि गायत्री शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों के नाम से देश के कोने–कोने में भव्य देवालय एवं कार्यालय बनाए जाएँ, जहाँ केंद्र बनाकर समीपवर्ती क्षेत्रों में काम किए जा सकें, जिनको प्रज्ञा मिशन का प्रण–संकल्प कहा जा सके।

बात असंभव लगती थी, किंतु प्राणवान परिजनों को शक्तिपीठ निर्माण के संकल्प दिए गए, तो २४०० भवन दो वर्ष के भीतर बन गए। उस क्षेत्र के कार्यकर्त्ता उसे केंद्र मानकर युग चेतना का आलोक वितरण करने और घर–घर अलख जगाने के काम में जुट पड़े। यह एक इतना बड़ा और इतना अद्‌भुत कार्य है, जिसकी तुलना में ईसाई मिशनरियों के द्वारा किए गए निर्मार्ण कार्य भी फीके पड़ जाते हैं। हमारे निर्माणों में जन–जन का अल्पांश लगता है, अतः सबको अपना लगता है, जबकि चर्च, अन्यान्य बड़े मंदिर बड़ी धनराशियों से बनाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त चल प्रज्ञापीठों की योजना बनी। एक कार्यकर्त्ता एक संस्था चला सकता है। यह चल गाड़ियाँ हैं। इन्हें कार्यकर्त्ता अपने नगर तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में धकेलकर ले जाते हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त आवश्यक सामान भी उसकी कोठी में भरा रहता है। यह चल पुस्तकालय अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक रहे इसलिए वे दो वर्ष में बारह हजार की संख्या में बन गए। स्थिर प्रज्ञा पीठों और चल प्रज्ञा संस्थानों के माध्यम से हर दिन प्रायः एक लाख व्यक्ति इनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

इसके अतिरिक्त उपरोक्त हर संस्था का वार्षिकोत्सव करने का निश्चय किया गया, जिसमें उस क्षेत्र के न्यूनतम एक हजार कार्यकर्त्ता एकत्रित हों। चार दिन सम्मेलन चले। नए वर्ष का संदेश सुनाने के लिए हरिद्वार से प्रचारक मंडलियाँ कन्याओं की टोलियों के समान ही भेजने का प्रबंध किया गया, जिनमें ४ गायक और १ वक्ता भेजे गए। पाँच प्रचारकों की टोली के लिए जीवन गाड़ियों का प्रबंध करना पड़ा ताकि कार्यकर्त्ताओं के बिस्तर, कपड़े, संगीत, उपकरण, लाउडस्पीकर आदि सभी सामान भली प्रकार जा सके। ड्राइवर भी अपना ही कार्यकर्त्ता होता है ताकि वह भी छठे प्रकार का काम दे सके। अब हर प्रचारक को जीप व कार ड्राइविंग सिखाने की व्यवस्था की गई है, ताकि इस प्रयोजन के लिए बाहर के आदमी न तलाशने पड़ें।

मथुरा रहकर महत्त्वपूर्ण साहित्य लिखा जा चुका था। हरिद्वार आकर प्रज्ञा पुराण का मूल उपनिषद् पक्ष संस्कृत व कथा टीका सहित हिंदी में १८ खंडों में लिखने का निश्चय किया गया। पाँच खंड प्रकाशित भी हो चुके। इसके अतिरिक्त एक फोल्डर आठ पेज का नित्य लिखने का निश्चय किया गया। जिनके माध्यम से सभी ऋषियों की कार्य पद्धति से सभी प्रज्ञापुत्रों को अवगत कराया जा सके और उन्हें करने में संलग्न होने की प्रेरणा मिल सके। अब तक इस प्रकार ४०० फोल्डर लिखे जा चुके हैं। उनको भारत की अन्य भाषाओं में अनुवाद कराने का प्रबंध चल पड़ा व देश के कोने–कोने में यह साहित्य पहुँचा है।

देश की सभी भाषाओं और सभी मत–मतांतरों को पढ़ने और उनके माध्यम से हर क्षेत्र में कार्यकर्त्ता तैयार करने के लिए एक अलग भाषा एवं धर्म विद्यालय शांतिकुंज में ही इस वर्ष बनकर तैयार हुआ है और ठीक तरह चल पड़ा है।

उपरोक्त कार्यक्रमों को लेकर जो भी कार्यकर्त्ता देशव्यापी दौरा करते हैं, वे मिशन के प्रायः दस लाख कार्यकर्त्ताओं में उन क्षेत्रों में प्रेरणाएँ भरने का काम करते हैं, जहाँ वे जाते हैं। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात और उड़ीसा इन क्षेत्रों में संगठन पूरी तरह सुंव्यवस्थित हो गया है। अब देश का जो भाग प्रचार क्षेत्र में भाषा व्यवधान के कारण सम्मिलित करना नहीं बन पड़ा है, उन्हें भी एकाध वर्ष में पूरी कर लेने की योजना है।

प्रवासी भारतीय प्रायः ७४ देशों में बिखरे हुए हैं। उनकी संख्या भी तीन करोड़ के करीब है। उन तक व अन्य देशवासियों तक मिशन के विचारों को फैलाने की योजना बड़ी सफलतापूर्वक आरंभ हुई है। आगे चलकर कई सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से कई राष्ट्रों में प्रज्ञा आलोक पहुँचाना संभव बन पड़ेगा। कदाचित ही कोई देश अब ऐसा शेष रहा हो, जहाँ प्रवासी भारतीय न रहते हों और मिशन का संगठन न बना हो।

ऊपर की पंक्तियों में ऋषियों की कार्यपद्धति को जहाँ जिस प्रकार व्यापक बनाना संभव हुआ है, वहाँ उसके लिए प्रायः एक हजार आत्मदानी कार्यकर्त्ता निरंतर कार्यरत रहकर कार्य कर रहे हैं। इसके लिए ऋषि जमदग्नि परंपरा का गुरुकुल आरण्यक यहाँ नियमित रूप से चलता है।

चरक परंपरा का पुनरुद्धार किया गया है। दुर्लभ जड़ी–बूटियों का शांतिकुंज में उद्यान लगाया गया है और उनमें हजारों वर्षों में क्या अंतर आया है, यह बहुमूल्य मशीनों से जाँच–पड़ताल की जा रही है। एक औषधि का एक बार में प्रयोग करने की एक विशिष्ट पद्धति यहाँ क्रियान्वित की जा रही है, जो अत्यधिक सफल हुई है।

युग शिल्पी विद्यालय के माध्यम से सुगम संगीत की शिक्षा हजारों व्यक्ति प्राप्त कर चुके हैं और अपने–अपने यहाँ

ढपली जैसे छोटे से माध्यम द्वारा संगीत विद्यालय चलाकर युग गायक तैयार कर रहे हैं।

पृथ्वी अंतर्ग्रही वातावरण से प्रभावित होती है। उसकी जानकारी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हर पाँच वर्ष पीछे ज्योतिष गणित को सुधारने की आवश्यकता होती है। आर्यभट्ट की इस विधा को नूतन जीवन प्रदान करने के लिए प्राचीनकाल के उपकरणों वाली समग्र वेधशाला विनिर्मित की गई है और नेपच्यून प्लेटो, यूरेनस ग्रहों के वेध समेत हर वर्ष दृश्य गणित पंचाँग प्रकाशित होता है। यह अपने ढंग का एक अनोखा प्रयोग है।

अब प्रकाश चित्र विज्ञान का नया कार्य हाथ में लिया गया है। अब तक सभी संस्थानों में प्रोजेक्टर पहुँचाए गए थे। उन्हीं से काम चल रहा था। अब वीडियो क्षेत्र में प्रवेश किया गया है। इनके माध्यम से कविताओं के आधार पर प्रेरक फिल्में बनाई जा रही हैं। देश के विद्वानों, मनीषियों, मूर्धन्यों, नेताओं के दृश्य प्रवचन टेप कराकर उनकी छवि समेत संदेश घर–घर पहुँचाए जा रहे हैं। भविष्य में मिशन के कार्यक्रमों का उद्देश्य, स्वरूप और प्रयोग समझाने वाली फिल्में बनाने की बड़ी योजना है, जो जल्दी ही कार्यान्वित होने जा रही है।

शांतिकुंज मिशन का सबसे महत्त्वपूर्ण सृजन है ''ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान।'' इस बहुमूल्य प्रयोगशाला द्वारा अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने के लिए बहुमूल्य यंत्र उपकरणों वाली प्रयोगशाला बनाई गई है। कार्यकर्त्ताओं में आधुनिक आयुर्विज्ञान एवं पुरातन आयुर्वेद विधा के ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट हैं। विज्ञान की अन्य विधाओं में निष्णात उत्साही कार्यकर्त्ता हैं, जिनकी रुचि अध्यात्म परक है। इसमें विशेष रूप से यज्ञ विज्ञान पर शोध की जा रही है। इस आधार पर यज्ञ विज्ञान की शारीरिक, मानसिक रोगों की निवृत्ति में पशुओं और वनस्पतियों के लिए लाभदायक सिद्ध करने में, वायुमंडल और वातावरण के संशोधन में इसकी उपयोगिता जाँची जा रही है, जो अब तक बहुत ही उत्साववर्धक सिद्ध हुई है।

यहाँ सभी सत्रों में आने वालों की स्वास्थ्य परीक्षा की

जाती है। उसी के अनुरूप उन्हें साधना करने का निर्देश दिया जाता है। अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय पर इस प्रकार शोध करने वाली विश्व की यह पहली एवं स्वयं में अनुपम प्रयोगशाला है।

इसके अतिरिक्त भी सामयिक प्रगति के लिए जनसाधारण को जो प्रोत्साहन दिए जाने हैं उनकी अनेक शिक्षाएँ यहाँ दी जाती हैं। अगले दिनों और भी बड़े काम हाथ में लिए जाने हैं।

गायत्री परिवार के लाखों व्यक्ति उत्तराखंड की यात्रा करने के लिए जाते समय शांतिकुंज के दर्शन करते हुए यहाँ की रज मस्तक पर लगाते हुए तीर्थयात्रा आरंभ करते हैं। बच्चों के अन्नप्राशन, नामकरण, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि संस्कार यहाँ आकर कराते हैं। क्योंकि परिजन इसे सिद्ध पीठ मानते हैं। पूर्वजों के श्राद्ध तर्पण कराने का भी यहाँ प्रबंध है। जन्म-दिन विवाह-दिन मनाने हर वर्ष प्रमुख परिजन यहाँ आते हैं। बिना दहेज की शादियाँ हर वर्ष यहाँ व तपोभूमि, मथुरा में होती हैं। इससे परिजनों को सुविधा भी बहुत रहती और, इस खर्चीली कुरीति से भी पीछा छूटता है।

जब पिछली बार हम हिमालय गए थे और हरिद्वार जाने और शांतिकुंज रहकर ऋषियों की कार्य पद्धति को पुनर्जीवन देने का काम हमें सौंपा गया था, तब यह असमंजस था कि इतना बड़ा कार्य हाथ में लेने में न केवल विपुल धन की आवश्यकता है, वरन् इसमें कार्यकर्त्ता भी उच्च श्रेणी के चाहिए। वे कहाँ मिलेंगे? सभी संस्थाओं के पास वेतन भोगी हैं। वे भी चिह्न पूजा करते हैं। हमें ऐसे जीवनदानी कहाँ से मिलेंगे, पर आश्चर्य है कि शांतिकुंज में-ब्रह्मवर्चस् में इन दिनों रहने वाले कार्यकर्त्ता ऐसे हैं, जो अपनी बड़ी-बड़ी पोस्टों से स्वेच्छा से त्याग पत्र देकर आए हैं। सभी ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट स्तर के हैं अथवा प्रखर प्रतिभा संपन्न हैं। इनमें से कुछ तो मिशन के चौके में भोजन करते हैं। कुछ उसकी लागत भी अपनी जमा धनराशि के ब्याज से चुकाते रहते हैं। कुछ के पास पेंशन आदि का प्रबंध भी है। भावावेश में आने जाने वालों का क्रम चलता रहता है, पर जो मिशन के सूत्र संचालक के मूलभूत उद्देश्य

को समझते हैं, वे स्थायी बनकर टिकते हैं। खुशी की बात है कि ऐसे भावनाशील नैष्ठिक परिजन सतत आते व संस्था से जुड़ते चले जा रहे हैं।

गुजारा अपनी जेब से एवं काम दिन–रात स्वयं की तरह मिशन का, ऐसा उदाहरण अन्य संस्थाओं में चिराग लेकर ढूँढना पड़ेगा। यह सौभाग्य मात्र शांतिकुंज को मिला है कि उसे एम० ए०, एम० एस० सी०, एम० डी०, एम० एस०, पी० एच० डी०, आयुर्वेदाचार्य, संस्कृत आचार्य स्तर के कार्यकर्त्ता मिले हैं। उनकी नम्रता, सेवा साधना, श्रमशीलता एवं निष्ठा देखते ही बनती है। जबकि वरीयता योग्यता एवं प्रतिभा को दी जाती है, डिग्री को नहीं, ऐसा परिकर जुड़ना इस मिशन का बहुत बड़ा सौभाग्य है।

जो काम अब तक हुआ है, उसमें पैसे की याचना नहीं करनी पड़ी। मालवीय जी का मंत्र मुट्ठी भर अन्न और दस पैसा नित्य देने का संदेश मिल जाने से ही इतना बड़ा कार्य संपन्न हो गया। आगे इसकी और भी प्रगति होने की संभावना है। हम जन्मभूमि छोड़कर आए, वहाँ हाईस्कूल, फिर इंटर कालेज एवं अस्पताल चल पड़ा। मथुरा का कार्य हमारे सामने की अपेक्षा उत्तराधिकारियों द्वारा दूना कर दिया गया है। हमारे हाथ का कार्य क्रमशः अब दूसरे समर्थ व्यक्तियों के कंधों पर जा रहा है, पर मन में विश्वास है कि घटेगा नहीं। ऋषियों का जो कार्य आरंभ करना और बढ़ाना हमारे जिम्मे था, वह अगले दिनों घटेगा नहीं, प्रज्ञावतार की अवतरण वेला में मत्स्यावतार की तरह बढ़ता–फैलता ही चला जाएगा। चाहे हमारा शरीर रहे या न रहे, किंतु हमारा परोक्ष शरीर सतत् उस कार्य को करता रहेगा, जो ऋषि सत्ता ने हमें सौंपा था।

बोओ एवं काटो का मंत्र, जो हमने जीवन भर अपनाया

हिमालय यात्रा से हरिद्वार लौटकर आने के बाद जब आश्रम का प्रारंभिक ढाँचा बनकर तैयार हुआ तो विस्तार हेतु साधनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। समय की विषमता ऐसी थी कि जिससे जूझने के लिए हमें कितने ही साधनों, व्यक्तियों एवं पराक्रमों की आवश्यकता अपेक्षित थी। दो काम

करने थे–एक संघर्ष, दूसरा सृजन। संघर्ष उन अवाँछनीयताओं से, जो अब तक की संचित सभ्यता, प्रगति और संस्कृति को निगल जाने के लिए मुँह बाए खड़ी है। सृजन उसका, जो भविष्य को उज्ज्वल एवं सुख–शांति से भरा पूरा बना सके। दोनों ही कार्यों का प्रयोग समूचे धरातल पर निवास करने वाले ५०० करोड़ मनुष्यों के लिए करना ठहरा था, इसलिए विस्तार क्रम अनायास ही अधिक हो जाता है।

निज के लिए हमें कुछ भी न करना था। पेट भरने के लिए जिस स्रष्टा ने कीट–पतंगों तक के लिए व्यवस्था बना रखी है, वह हमें क्यों भूखा रहने देगा। भूखे उठते तो सब हैं, पर खाली पेट सोता कोई नहीं। इस विश्वास ने निजी कामनाओं का आरंभ में ही समापन कर दिया। न लोभ ने कभी सताया, न मोह ने। वासना, तृष्णा और अहंता में से कोई भी भव बंधन जैसी बँधकर पीछे न लग सकी। जो करना था, भगवान के लिए करना था, गुरुदेव के निर्देशन पर करना था। उन्होंने संघर्ष और सृजन के दो ही काम सौंपे थे, सो उन्हें करने में सदा उत्साह ही रहा। टालमटोल करने की प्रवृत्ति न थी और न कभी इच्छा हुई। जो करना सो तत्परता और तन्यता से करना, यह आदत जन्मजात दिव्य अनुदान के रूप में मिली और आद्यावधि यथावत बनी रही।

जिन साधनों की नव सृजन के लिए आवश्यकता थी, वे कहाँ से मिले, कहाँ से आएँ? इस प्रश्न के उत्तर में मार्गदर्शक ने हमें हमेशा एक ही तरीका बताया था कि बोओ और काटो, मक्का और बाजरा का एक बीज जब पौधा बनकर फलता है तो एक के बदले सौ नहीं वरन् उससे भी अधिक मिलता है। द्रोपदी ने किसी संत को अपनी साड़ी फाड़कर दी थी, जिससे उन्होंने लंगोटी बनाकर अपना काम चलाया था। वही आड़े समय में इतनी बनी कि उन साड़ियों के गट्ठे को सिर पर रखकर भगवान् को स्वयं भाग कर आना पड़ा। "जो तुझे पाना है, उसे बोना आरंभ कर दे।" यही बीज मंत्र हमें बताया और अपनाया गया, प्रतिफल ठीक वैसा ही निकला जैसा कि संकेत किया गया।

शरीर, बुद्धि और भावनाएँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के साथ भगवान् सबको देते हैं। धन स्व उपार्जित होता है। कोई हाथों–हाथ कमाता है, तो कोई पूर्व संचित संपदा को उत्तराधिकार में पाते हैं। हमने कमाया तो नहीं था, पर उत्तराधिकार में अवश्य समुचित मात्रा में पाया। इन सबको बो देने और समय पर काट लेने के लायक गुंजायश थी, सो बिना समय गँवाए उस प्रयोजन में अपने को लगा दिया।

रात में भगवान् का भजन कर लेना और दिन भर विराट ब्रह्म के लिए विश्व मानव के लिए समय और श्रम नियोजित रखना, यह शरीर साधना के रूप में निर्धारित किया गया।

बुद्धि दिन भर जागने में ही नहीं, रात्रि के सपने में भी लोक मंगल की विधाएँ विनिर्मित करने में लगी रही। `अपने निज के लिए सुविधा संपदा कमाने का ताना–बाना बुनने की कभी भी इच्छा ही नहीं हुई। अपनी भावनाएँ सदा विराट के लिए लगी रहीं। प्रेम, किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं आदर्शों से किया। गिरों को उठाने और पिछड़ों को बढ़ाने की ही भावनाएँ सतत् उमड़ती रहीं।

इस विराट को ही हमने अपना भगवान् माना। अर्जुन के दिव्य चक्षु ने इसी विराट् के दर्शन किए थे। यशोदा ने कृष्ण के मुख में स्रष्टा का यही स्वरूप देखा था। राम ने पालने में पड़े–पड़े माता कौशल्या को अपना यही रूप दिखाया था और काक भुशुंडि इसी स्वरूप की झाँकी करके धन्य हुए थे।

हमने भी अपने पास जो कुछ था, उसी विराट ब्रह्म को– विश्व मानव को सौंप दिया। बोने के लिए इससे उर्वर खेत दूसरा कोई हो नहीं सकता था। वह समयानुसार फला–फूला। हमारे कोठे भर दिए, सौंपे गए दो कामों के लिए जितने साधनों की जरूरत थी, वे उसी में जुट गए।

शरीर जन्मजात दुर्बल था। शरीरिक बनावट की दृष्टि से उसे दुर्बल कह सकते हैं, जीवन शक्ति तो प्रचंड थी ही। जवानी में बिना शाक, घी, दूध के २४ वर्ष तक जौ की रोटी और छाछ लेते रहने से वह और कृश हो गया था, पर जब बोने काटने की विधा अपनाई तो पिचहत्तर वर्ष की इस उम्र में वह

इतना सुदृढ़ है कि कुछ ही दिन पूर्व उसने एक बिगड़ैल साँड को कंधे का सहारा देकर चित्त पटक दिया और उससे भागते ही बना।

सर्वविदित है कि अनीति एवं आतंक के पक्षधर किराए के हत्यारे ने एक वर्ष पूर्व पाँच बोर की रिवाल्वर से लगातार हम पर फायर किए और उसकी सभी गोलियाँ नलियों में उलझी रह गईं। रिवाल्वर उससे भय के मारे वहीं गिर गई। अब की बार वह छुरेबाजी पर उतर आया। छुरे चलते रहे। खून बहता रहा, पर भोंके गए सारे प्रहार शरीर में सीधे न घुसकर तिरछे फिसलकर निकल गए। डाक्टरों ने जख्म सीं दिए और कुछ ही सप्ताह में शरीर ज्यों का त्यों हो गया।

इसे परीक्षा का एक घटनाक्रम ही कहना चाहिए कि पाँच बोर का लोडेड रिवाल्वर शातिर हाथों में भी काम न कर सका। जानवर काटने के छुरे के बारह प्रहार मात्र प्रमाण के निशान छोड़कर अच्छे हो गए। आक्रमणकारी अपने बम से स्वयं घायल होकर जेल जा बैठा। जिसके आदेश से उसने यह किया था, उसे फाँसी की सजा घोषित हुई। असुरता के आक्रमण असफल हुए। एक उच्चस्तरीय दैवी प्रयास को निष्फलकर देना संभव न हो सका। मारने वाले से बचाने वाला बड़ा सिद्ध हुआ।

इन दिनों एक से पाँच करने की सूक्ष्मीकरण विधा चल रही है। इस लिए क्षीणता तो आई है, तो भी बाहर से काया ऐसी है, जिसे जितने दिन चाहे जीवित रखा जा सके, पर हम जान–बूझकर इसे इस स्थिति में रखेंगे नहीं। कारण कि सूक्ष्म शरीर से अधिक काम लिया जा सकता है और स्थूल शरीर उसमें किसी कदर बाधा ही डालता है।

शरीर की जीवनीशक्ति, असाधारण रही है। उसके द्वारा दस गुना काम लिया गया है। शंकराचार्य, विवेकानंद बत्तीस–पैंतीस वर्ष जिए, पर ३५० वर्ष के बराबर काम कर सके। हमने ७५ वर्षों में विभिन्न स्तर के इतने काम किए हैं कि उनका लेखा–जोखा लेने पर वे ७५० वर्ष से कम में होने वाले संभव प्रतीत नहीं होते। यह सारा समय नवसृजन की एक से एक अधिक सफल भूमिकाएँ बनाने में लगा है। निष्क्रिय–

निष्प्रयोजन और खाली कभी नहीं रहा।

बुद्धि को भगवान् के खेत में बोया और वह असाधारण प्रतिभा बनकर प्रकटी। अभी तक लिखा हुआ साहित्य इतना है कि जिसे शरीर के वजन से तोला जा सके। यह सभी उच्च कोटि का है। आर्षग्रंथों के अनुवाद से लेकर प्रज्ञा युग की भावी पृष्ठभूमि बनाने वाला ही सब कुछ लिखा गया है। आगे का सन् २००० तक का हमने अभी से लिखकर रख दिया है।

अध्यात्म को विज्ञान से मिलाने की योजना–कल्पना में तो कइयों के मन में थी, पर उसे कोई कार्यान्वित न कर सका। इस असंभव को संभव होते देखना हो तो ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान में आकर अपनी आँखों से स्वयं देखना चाहिए। जो संभावनाएँ सामने हैं, उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि अगले दिनों अध्यात्म की रूपरेखा विशुद्ध विज्ञान पर बनकर रहेगी।

छोटे–छोटे देश अपनी पंच वर्षीय योजनाएँ बनाने के लिए आकाश–पाताल के कुलावे मिलाते हैं, पर समस्त विश्व की कायाकल्प योजना का चिंतन और क्रियान्वयन जिस प्रकार शांतिकुंज के तत्त्वावधान में चल रहा है, उसे एक शब्द में अद्भुत एवं अनुपम ही कहा जा सकता है।

भावनाएँ हमने पिछड़ों के लिए समर्पित की हैं। शिव ने भी यही किया था। उनके साथ चित्र–विचित्र समुदाय रहता था और सर्पों तक को वे गले लगाते थे। उसी राह पर हमें भी चलते रहना पड़ा है। हम पर छुरा रिवाल्वर चलाने वालों को पकड़ने वाले जब दौड़ रहे थे, पुलिस भी लगी हुई थी। सभी को हमने वापस बुला लिया और घातक को जल्दी ही भाग जाने का अवसर दिया। जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं, जब प्रतिपक्षी अपनी ओर से कुछ कमी न रहने देने पर भी मात्र हँसने और हँसाने के रूप में प्रतिदान पाते रहे हैं।

हमने जितना प्यार लोगों से किया है, उससे सौ गुनी संख्या और मात्रा में लोग हमारे ऊपर प्यार लुटाते रहे हैं। निर्देशों पर चलते रहे हैं और घाटा उठाने तथा कष्ट सहने में पीछे नहीं रहे हैं। कुछ दिन पूर्व प्रज्ञा संस्थान बनाने का स्वजनों

को आदेश किया, तो दो वर्ष के भीतर २४०० गायत्री शक्ति पीठों की भव्य इमारतें बनकर खड़ी हो गईं और उसमें लाखों रुपयों की राशि खप गई। बिना इमारत के १२ हजार प्रज्ञा संस्थान बने सो अलग। छुरा लगा तो सहानुभूति में इतनी बड़ी संख्या स्वजनों की उमड़ी, मानों मनुष्यों का आँधी–तूफान आया हो। इनमें से हर एक बदला लेने के लिए आतुरता व्यक्त कर रहा था। हमने तथा माताजी ने सभी को दुलार कर दूसरी दिशा में मोड़ा। यह हमारे प्रति प्यार की–सघन आत्मीयता की ही अभिव्यक्ति तो है।

हमने जीवन भर प्यार खरीदा, बटोरा और लुटाया है। इसका एक नमूना हमारी धर्मपत्नी, जिन्हें हम माताजी कहकर संबोधित करते हैं, की भावनाएँ पढ़कर कोई भी समझ सकता है। वे काया और छाया की तरह साथ रहीं हैं और एक प्राण दो शरीर की तरह हमारे हर काम में हर घड़ी हाथ बँटाती रही हैं।

पशु–पक्षियों तक का हमने ऐसा प्यार पाया है कि वे स्वजन सहचर की तरह आगे–पीछे फिरते रहे हैं। लोगों ने आश्चर्य से देखा है कि सामान्यतः जो प्राणी मनुष्य से सर्वथा दूर रहते हैं वे किस तरह कंधे पर बैठते, पीछे–पीछे फिरते और चुपके से बिस्तर में आ सोते हैं। ऐसे दृश्य हजारों ने हजारों की संख्या में देखे और आश्चर्यचकित रह गए हैं। यह और कुछ नहीं, प्रेम का प्रतिदान मात्र था।

धन की हमें समय–समय पर भारी आवश्यकता पड़ती रही है। गायत्री तपोभूमि, शांतिकुंज और ब्रह्मवर्चस् की इमारतें करोड़ों रुपए मूल्य की हैं। मनुष्य के आगे हाथ न पसारने का व्रत निवाहते हुए अचानक ही यह सारी आवश्यकताएँ पूरी हुई हैं। पूरा समय काम करने वालों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इनकी आजीविका की ब्राह्मणोचित व्यवस्था बराबर चलती रहती है। प्रेस, प्रकाशन, प्रचार में संलग्न जीप–गाड़ियाँ तथा अन्यान्य खर्चे ऐसे हैं, जो समयानुसार बिना किसी कठिनाई के पूरे होते रहते हैं, यह वह फसल है, जो अपने पास की एक–एक पाई को भगवान् के खेत में बो देने के उपरांत हमें मिली है। इस फसल पर हमें गर्व है। जमींदारी समाप्त होने पर, जो धनराशि

मिली है, वह गायत्री तपोभूमि निर्माण में दे दी। पूर्वजों की छोड़ी जमीन किसी कुटुंबी को न देकर जन्मभूमि में हाई–स्कूल और अस्पताल बनाने में दे दी। हम व्यक्तिगत रूप से खाली हाथ हैं, पर योजनाएँ ऐसी चलाते हैं जैसी लखपति और करोड़पति लोगों के लिए भी संभव नहीं हैं। यह सब हमारे मार्गदर्शक के उस सूत्र के कारण संभव हो पाया है, जिसमें उन्होंने कहा–''जमा मत करो, बिखेर दो। बोओ और और काटो।'' सत्प्रवृत्तियों का उद्यान जो प्रज्ञा परिवार के रूप में लहलहाता दृश्यमान होता है, उसकी पृष्ठभूमि इसी संकेत के आधार पर बनी है।

ब्राह्मण मन और ऋषि कर्म

अंतरंग में ब्राह्मण वृत्ति जागते ही बहिरंग में साधु प्रवृत्ति का उभरना, स्वाभाविक है। ब्राह्मण अर्थात लिप्सा से जूझ सकने योग्य मनोबल का धनी। प्रलोभनों और दबावों का सामना करने में समर्थ। औसत भारतीय स्तर के निर्वाह में काम चलाने से संतुष्ट। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए आरंभिक जीवन में ही मार्गदर्शक का समर्थ प्रशिक्षण मिला। वही ब्राह्मण जन्म था। माता–पिता तो एक मास पिंड को जन्म इससे पहले ही दे चुके थे। ऐसे नर पशुओं का कलेवर न जाने कितनी बार पहनना और छोड़ना पड़ा होगा। तृष्णाओं की पूर्ति के लिए न जाने कितनी बार पाप के पोटले, कमाने, लादने, ढोने और भुगतने पड़े होंगे, पर संतोष और गर्व इसी जन्म पर है। जिसे ब्राह्मण जन्म कहा जा सकता है। एक शरीर नर–पशु का, दूसरा नर–नारायण का प्राप्त करने का सुयोग इसी बार मिला है।

ब्राह्मण के पास सामर्थ्य का भंडार बच रहता है, क्योंकि शरीर यात्रा का गुजारा तो बहुत थोड़े में निबट जाता है। हाथी, ऊँट, भैंसे आदि के पेट बड़े होते हैं, उन्हें उसे भरने के लिए पूरा समय लगे तो बात समझ में आती है, पर मनुष्य के सामने वैसी कठिनाई नहीं है। दस उँगली वाले दो हाथ, कमाने की हजार तरकीबें ढूँढ निकालने वाला मस्तिष्क, सर्वत्र उपलब्ध विपुल साधन, परिवार सहकार का अभ्यास इतनी सुविधाओं के रहते किसी को भी गुजारे में न कमी पड़नी चाहिए न असुविधा। फिर पेट की लंबाई–चौड़ाई भी तो मात्र छः इंच की है। इतना तो मोर कबूतर भी कमा लेते हैं। मनुष्य के सामने निर्वाह करने की कोई समस्या नहीं। वह कुछ ही घंटे के परिश्रम में पूरी हो जाती है। फिर सारा समय खाली बच रहता है। जिसके अंतराल में संत

जाग पड़ता है, वह एक ही बात सोचता है कि समय, श्रम, मनोयोग की जो प्रखरता, प्रतिभा हस्तगत हुई है, उसका उपयोग कहाँ किया जाए? कैसे किया जाए?

इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने में बहुत देर नहीं लगती। देव मानवों का पुरातन इतिहास इसके लिए प्रमाण उदाहरणों की एक पूरी शृंखला लाकर खड़ी कर देता है। उनमें से जो भी प्रिय लगे, अनुकूल पड़े, अपने लिए चुना, अपनाया जा सकता है। केवल दैत्य ही हैं जिनकी इच्छाएँ, आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। कामनाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुई हैं। साधनों के विपुल भंडार जमा करने और उन्हें अतिशय मात्रा में भोगने की योजनाएँ तो अनेकों ने बनाईं, पर हिरण्याक्ष से लेकर सिकंदर तक कोई उन्हें पूरी नहीं कर सका।

आत्मा और परमात्मा का मध्यवर्ती एक मिलन–विराम है, जिसे देवमानव कहते हैं। इसके और भी कई नाम हैं– महापुरुष, संत, सुधारक और शहीद आदि। पुरातन काल में इन्हें ऋषि कहते थे। ऋषि अर्थात वे–जिनका निर्वाह न्यूनतम में चलता हो और बची हुई सामर्थ्य संपदा को ऐसे कामों में नियोजित किए रहते हों, जो समय की आवश्यकता पूरी करें। वातावरण में सत्प्रवृत्तियों का अनुपात बढ़ाएँ। जो श्रेष्ठता की दिशा में बढ़ रहे हैं, उन्हें मनोबल अनुकूल मिले। जो विनाश को आतुर हैं, उनके कुचक्रों को सफलता न मिले। संक्षेप में यही हैं वे कार्य निर्धारण जिनके लिए ऋषियों के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रयास अनवरत गति से चलते रहते हैं। निर्वाह से बची हुई क्षमता को वे इन्हीं कार्यों में लगाते रहते हैं। फलतः जब कभी लेखा–जोखा लिया जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कितना कार्य कर चुके, कितनी लंबी मंजिल पार कर ली। यह एक–एक कदम चलते रहने का परिणाम है। एक–एक बूँद जमा करते रहने की गति की ही परिणति है।

अपनी समझ में वह भक्ति नहीं आई, जिसमें मात्र भावोन्माद ही हो, आचरण की दृष्टि से सब कुछ क्षम्य हो। न उनका कोई सिद्धांत जँचा, न उस कथन के औचित्य को विवेक ने स्वीकारा। अतएव जब–जब भक्ति उमंगती रही ऋषियों का

मार्ग ही अनुकरण के योग्य जँचा और जो समय हाथ में था, उसे पूरी तरह ऋषि परंपरा में खपा देने का प्रयत्न चलता रहा। पीछे मुड़कर देखते हैं कि अनवरत प्रयत्न करते रहने वाले कण–कण करके मनों जोड़ लेते हैं। चिड़िया तिनका–तिनका बीनकर अच्छा–खासा घोंसला बना लेती है। अपना भी कुछ ऐसा ही सुयोग्य सौभाग्य है कि ऋषि परंपरा का अनुकरण करने के लिए कुछ कदम बढ़ाए तो उनकी परिणति ऐसी हुई कि जिसे समझदार व्यक्ति 'शानदार कहते हैं।

अपने समय के विभिन्न ऋषिगणों ने अपने हिस्से के काम संभाले और पूरे किए थे। उन दिनों ऐसी परिस्थितियाँ, अवसर और इतना अवकाश भी था कि समय की आवश्यकता के अनुरूप अपने–अपने कार्यों को वे धैर्यपूर्वक संचित समय में संपन्न करते रह सकें, पर अब तो आपत्तिकाल है। इन दिनों अनेक काम एक ही समय में द्रुतगति से निपटाने हैं। घर में अग्निकांड हो तो जितना बुझाने का प्रयास बन पड़े उसे स्वयं करते हुए, बच्चों को, कपड़ों को, धनराशि को निकालने–ढोने का काम साथ–साथ ही चलता है। हमें ऐसे ही आपत्तिकाल का सामना करना पड़ा है और ऋषियों द्वारा हमारी हिमालय यात्रा में सौंपे गए कार्यों में से प्रायः प्रत्येक को एक ही समय में बहुमुखी जीवन जीकर संभालना पड़ा है। इसके लिए प्रेरणा दिशा और सहायता हमारे समर्थ मार्गदर्शक की मिली है और शरीर जो कुछ भी हम कर सकते थे, उसे पूरी तरह तत्परता और तन्मयता के साथ संपन्न किया है। उसमें पूरी–पूरी ईमानदारी का समावेश किया है। फलतः वे सभी कार्य इस प्रकार संपन्न होते चले हैं मानों वे किए हुए ही रखे हों। कृष्ण का रथ चलाना और अर्जुन का गांडीव उठाना पुरातन इतिहास होते हुए भी हमें अपने संदर्भ में चरितार्थ होते दीखता रहा है।

युग परिवर्तन जैसा महान कार्य होता तो भगवान् की इच्छा, योजना एवं क्षमता के आधार पर ही है, पर उसका श्रेय वे ऋषि, कल्प जीवनमुक्त आत्माओं को देते रहते हैं। यही उनकी साधना का–पात्रता का सर्वोत्तम उपहार है। हमें भी इस प्रकार का श्रेय उपहार देने की भूमिका बनी और हम कृत–कृत्य

हो गए। हमें सुदूर भविष्य की झाँकी अभी से दिखाई पड़ती है, इसी कारण हमें यह लिख सकने में संकोच रंचमात्र भी नहीं होता।

अब पुरातन काल के ऋषियों में से किसी का भी स्थूल शरीर नहीं है, उनकी चेतना निर्धारित स्थानों में मौजूद है। सभी से हमारा परिचय कराया गया और कहा गया कि इन्हीं पद चिन्हों पर चलना है। इन्हीं की कार्य पद्धति अपनानी, देवात्मा हिमालय के प्रतीक स्वरूप शांतिकुंज हरिद्वार में एक आश्रम बनाना और ऋषि परंपरा को इस प्रकार कार्यान्वित करना है, जिससे युग परिवर्तन की प्रक्रिया का गति चक्र सुव्यवस्थित रूप से चल पड़े।

जिन ऋषियों, तप पूत मानवों ने कभी हिमालय में रहकर विभिन्न कार्य किए थे, उनका स्मरण हमें मार्गदर्शक सत्ता ने तीसरी यात्रा में बार–बार दिलाया था। इनमें थे, भगीरथ (गंगोत्री), परशुराम (यमुनोत्री), चरक (केदारनाथ), व्यास (बद्रीनाथ), याज्ञवल्क्य (त्रियुगी नारायण), नारद (गुप्तकाशी), आद्य शंकराचार्य (ज्योतिर्मठ), जमदग्नि (उत्तरकाशी), पातंजलि (रुद्र प्रयाग), पिप्पलाद, सूत–शोनिक लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न (ऋषिकेश) दक्ष प्रजापति, कणादि एवं विश्वामित्र सहित सप्त ऋषिगण (हरिद्वार) इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु, संत ज्ञानेश्वर एवं तुलसीदास जी के कर्त्तव्यों की झाँकी दिखाकर भगवान् बुद्ध के परिव्राजक धर्म चक्र प्रवर्तन अभियान को युगानुकूल परिस्थितियों में संगीत, संकीर्तन प्रज्ञा पुराण कथा के माध्यम से देश–विदेश में फैलाने एवं प्रज्ञावतार द्वारा बुद्धावतार का उत्तरार्द्ध पूरा किए जाने का भी निर्देश था। समर्थ रामदास के रूप में जन्म लेकर जिस प्रकार व्यायामशालाओं, महावीर मंदिरों की स्थापना सोलहवीं सदी में हमसे कराई गई थी, उसी को नूतन अभिनव रूप में प्रज्ञा संस्थानों, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों, ज्ञानमंदिर, स्वाध्याय मंडलों द्वारा संपन्न किए जाने के संकेत मार्गदर्शक द्वारा हिमालय प्रवास में ही दे दिए गए थे।

देवात्मा हिमालय का प्रतीक प्रतिनिधि शांतिकुंज को बना देने का जो निर्देश मिला वह कार्य साधारण नहीं श्रम एवं

धन साध्य था, सहयोगियों की सहायता पर निर्भर भी। इसके अतिरिक्त अध्यात्म के उस ध्रुव केंद्र में सूक्ष्म शरीर से निवास करने वाले ऋषियों की आत्मा का आह्वान करके प्राण प्रतिष्ठा का संयोग भी बिठाना था। यह सभी कार्य ऐसे हैं, जिन्हें देवालय परंपरा में अद्‌भुत एवं अनुपम कहा जा सकता है। देवताओं के मंदिर अनेक जगह बने हैं। वे भिन्न–भिन्न भी हैं। एक ही जगह सारे देवताओं की स्थापना का तो कहीं सुयोग हो भी सकता है, पर समस्त देवात्माओं ऋषियों की एक जगह प्राण प्रतिष्ठा हुई हो ऐसा तो संसार भर में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। फिर इससे भी बड़ी बात यह है कि ऋषियों के क्रियाकलापों का न केवल चिह्न पूजा के रूप में वरन् यर्थाथता के रूप में भी यहाँ न केवल दर्शन वरन् परिचय भी प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस्, गायत्री तीर्थ एक प्रकार से प्रायः सभी ऋषियों के क्रियाकलापों का प्रतिनिधत्त्व करते हैं।

भगवान् राम ने लंका विजय और रामराज्य की स्थापना के निमित्त मंगलाचरण रूप में रामेश्वरम् पर शिव प्रतीक की स्थापना की थी। हमारा सौभाग्य है कि हमें युग परिवर्तन हेतु संघर्ष एवं सृजन प्रयोजन के लिए देवात्मा हिमालय की प्रतिमा प्राण प्रतिष्ठा समेत करने का आदेश मिला। शांतिकुंज में देवात्मा हिमालय का भव्य मंदिर पाँचों प्रयागों, पाँचों काशियों, पाँचों सरिताओं और पाँचों सरोवरों सहित देखा जा सकता है। इसमें सभी ऋषियों के स्थानों के दिव्य दर्शन हैं। इसे अपने ढंग का अद्‌भुत एवं अनुपम देवालय कहा जा सकता है। जिसने हिमालय के उन दुर्गम क्षेत्रों के दर्शन न किए हों, वे इस लघु संस्करण के दर्शन से ही वही लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

जमदग्नि पुत्र परशुराम के फरसे ने अनेक उद्धत उच्छृंखलों के सिर काटे थे। यह वर्णन अलंकारिक भी हो सकता है। उन्होंने यमुनोत्री में तपश्चर्या कर प्रखरता की साधना की एवं सृजनात्मक क्रांति का मोर्चा संभाला। जो व्यक्ति तत्कालीन समाज निर्माण में बाधक, अनीति में लिप्त थे, उनकी वृत्तियों का उन्होंने उन्मूलन किया। दुष्ट और भ्रष्ट जनमानस के प्रवाह को

उलट कर सीधा करने का पुरुषार्थ उन्होंने निभाया। इसी आधार पर उन्हें भगवान् शिव से "परशु (फरसा)" प्राप्त हुआ। उत्तरार्ध में उन्होंने फरसा फेंककर फावड़ा थामा एवं स्थूल दृष्टि से वृक्षारोपण एवं सूक्ष्मतः रचनात्मक सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण किया। शांतिकुंज से चलने वाली लेखनी ने, वाणी ने उसी परशु की भूमिका निभाई एवं असंख्यों की मान्यताओं, भावनाएँ, विचारणाओं एवं गतिविधियों में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया है।

भागीरथ ने जल दुर्भिक्ष के निवारण हेतु कठोर तप करके स्वर्ग से गंगा को धरती पर लाने में सफलता प्राप्त की थी। भागीरथ शिला गंगोत्री के समीपस्थ है। गंगा उन्हीं के तप पुरुषार्थ से अवतरित हुईं। इसीलिए भागीरथी कहलाई। लोक मंगल के प्रयोजन हेतु प्रचंड पुरुषार्थ करके भागीरथ दैवी कसौटी पर खरे उतरे एवं भगवान् शिव के कृपा पात्र बने। आज आस्थाओं का दुर्भिक्ष चारों ओर संव्याप्त है। इसे दिव्य ज्ञान की धारा गंगा से ही मिटाया जा सकता है। बौद्धिक और भावनात्मक अकाल निवारणार्थ शांतिकुंज से ज्ञान गंगा का जो अविरल प्रवाह बहा है, उससे आशा बँधती है कि दुर्भिक्ष मिटेगा, सद्भावना का विस्तार चहुँ ओर होगा।

चरक ऋषि ने केदारनाथ क्षेत्र के दुर्गम क्षेत्रों में वनौषधियों की शोध करके रोग ग्रस्तों को निरोग करने वाली संजीवनी खोज निकाली थी। शास्त्र कथन है कि ऋषि चरक औषधियों से वार्ता करके गुण पूछते और उन्हें एकत्र कर उन पर अनुसंधान करते थे। जीवनीशक्ति संवर्धन, मनोविकार शमन एवं व्यवहारिक गुण, कर्म, स्वभाव में परिवर्तन करने वाले गुण रखने वाली अनेक औषधियाँ इसी अनुसंधान की देन हैं। शांतिकुंज में दुर्लभ औषधियों को खोज निकालने, उनके गुण प्रभाव को आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों से जाँचने का जो प्रयोग चलता है, उसने आयुर्वेद को एक प्रकार से पुनर्जीवित किया है। सही औषधि के एकाकी प्रयोग से कैसे निरोग रहकर दीर्घायुष्य बना जा सकता है, यह अनुसंधान इस ऋषि परंपरा के पुनर्जीवन हेतु किए जा रहे प्रयासों की एक कड़ी है।

महर्षि व्यास ने नर एवं नारायण पर्वत के मध्य वसुधारा जल प्रपात के समीप व्यास गुफा में गणेश जी की सहायता से पुराण लेखन का कार्य किया था। उच्चस्तरीय कार्य हेतु एकाकी, शांति, सतोगुणी वातावरण की अभीष्टता। आज की परिस्थितियों में, जबकि प्रेरणादायी साहित्य का अभाव है, पुरातन गंथ लुप्त हो चले, शांतिकुंज में विराजमान तंत्री ने आज से पच्चीस वर्ष से पूर्व ही चारों ओर वेद, अट्ठारह पुराण, एक सौ आठ उपनिषद, छहों दर्शन, चौबीस गीताएँ, आरण्यक, ब्राह्मण आदि ग्रंथों का भाष्य कर सर्वसाधारण के लिए सुलभ एवं व्यावहारिक बनाकर रख दिया था। साथ ही जनसाधारण की हर समस्या पर व्यवहारिक समाधान परक युगानुकूल साहित्य सतत् लिखा है, जिसने लाखों व्यक्तियों के मन मस्तिष्क प्रभावित कर सही दिशा दी है। प्रज्ञापुराण के अट्ठारह खंड नवीनतम सृजन हैं, जिसमें कथा साहित्य के माध्यम से उपनिषद्–दर्शन को जन सुलभ बनाया गया है।

पतंजलि ने रुद्रप्रयाग में अलकनंदा एवं मंदाकिनी के संगम स्थल पर योग विज्ञान के विभिन्न प्रयोगों का आविष्कार और प्रचलन किया था। उन्होंने प्रमाणित किया कि मानवी काया में ऊर्जा का भंडार निहित है। इस शरीर तंत्र के ऊर्जा केंद्रों को प्रसुप्ति से जागृति में लाकर मनुष्य देवमानव बन सकता है, ऋद्धि–सिद्धि संपन्न बन सकता है। शांतिकुंज में योग साधना के विभिन्न अनुशासनों योगत्रयी, कायाकल्प एवं आसन–प्राणायाम के माध्यम से इस मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु साधकों की बहुमूल्य यंत्र उपकरणों से शारीरिक–मानसिक परीक्षा सुयोग्य चिकित्सकों से कराने के उपरांत साधना लाभ दिया जाता है एवं भावी जीवन संबंधी दिशाधारा प्रदान की जाती है।

याज्ञवल्क्य ने त्रियुगी नारायण में यज्ञ विद्या अन्वेषण किया था और उनके भेद–उपभेदों का परिणाम मनुष्य एवं समग्र जीवन जगत के स्वास्थ्य संवर्धन हेतु, वातावरण शोधन, वनस्पति संवर्धन एवं वर्षण के रूप में जाँचा परखा था। हिमालय के इस दुर्गम स्थान पर संप्रति एक यज्ञकुंड में अखंड अग्नि है, जिसे शिव–पार्वती के विवाह के समय से प्रज्ज्वलित माना जाता

है। यह उस परंपरा की प्रतीक अग्नि शिखा है, आज यज्ञ विज्ञान की लुप्त प्राय श्रृंखला को फिर से ख़ोजकर समय के अनुरूप अन्वेषण करने का दायित्त्व ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान ने अपने कंधों पर लिया है। यज्ञोपचार पद्धति (यज्ञोपैथी) के अनुसंधान हेतु समय के अनुरूप एक सर्वांगपूर्ण प्रयोगशाला आधुनिक उपकरणों से युक्त ब्रह्मवर्चस् प्रांगण के मध्य में विद्यमान है। वनौषधि यजन से शारीरिक, मानसिक रोगों के उपचार, मनोविकार शमन, जीवनीशक्ति वर्धन, प्राणवान पर्जन्य की वर्षा एवं पर्यावरण संतुलन जैसे प्रयोगों के निष्कर्ष देखकर जिज्ञासुओं को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

विश्वामित्र गायत्री महामंत्र के द्रष्टा, नूतन सृष्टि के सृजेता माने गए हैं। उनने सप्तऋषियों सहित जिस क्षेत्र में तप करके आद्यशक्ति का साक्षात्कार किया था, वह पावन भूमि यही गायत्री तीर्थ शांतिकुंज की है, जिसे हमारे मार्गदर्शक ने दिव्य चक्षु प्रदान करके दर्शन कराए थे एवं आश्रम निर्माण हेतु प्रेरित किया था। विश्वामित्र की सृजन साधना के सूक्ष्म संस्कार यहाँ सघन हैं। महाप्रज्ञा को युग शक्ति का रूप देने उनकी चौबीस मूर्तियों की स्थापना कर सारे राष्ट्र एवं विश्व में आद्यशक्ति का वसुधैव कुटुंबकम एवं सद्बुद्धि की प्रेरणा वाला संदेश यहीं से उद्घोषित हुआ। अनेक साधकों ने यहाँ गायत्री अनुष्ठान किए हैं एवं आत्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की है। शब्द शक्ति एवं सावित्री विधा पर वैज्ञानिक अनुसंधान विश्वामित्र परंपरा का ही पुनर्जीवन है।

जमदग्नि का गुरुकुल–आरण्यंक उत्तरकाशी में स्थित था एवं बालकों, वानप्रस्थों की समग्र शिक्षा व्यवस्था का भांडागार था। अल्पकालीन साधना, प्रायश्चित, संस्कार आदि कराने एवं प्रौढ़ों के शिक्षण की यहाँ समुचित व्यवस्था थी। प्रखर व्यक्तित्त्वों के उत्पादन, वानप्रस्थ, परिव्राजक हेतु लोकसेवियों का शिक्षण, गुरुकुल में बालकों को नैतिक शिक्षण तथा युग शिल्पी विद्यालय में समाज निर्माण की विधा का समग्र शिक्षण इस ऋषि परंपरा को आगे बढ़ाने हेतु शांतिकुंज द्वारा संचालित ऐसे ही क्रिया-कलाप हैं।

देवर्षि नारद ने गुप्त काशी में तपस्या की। वे निरंतर अपने वीणावादन से जन–जागरण में निरत रहते थे। उन्होंने सत्परामर्श द्वारा भक्ति भावनाओं को प्रसुप्ति से प्रौढ़ता तक समुन्नत किया था। शांतिकुंज के युग गायन शिक्षण विद्यालय ने अब तक हजारों ऐसे परिव्राजक प्रशिक्षित किए हैं। वे एकाकी अपने–अपने क्षेत्रों में एवं समूह में जीप टोली द्वारा भ्रमण कर नारद परंपरा का ही अनुकरण कर रहे हैं।

देव प्रयाग में राम को योग वाशिष्ठ का उपदेश देने वाले वशिष्ठ ऋषि धर्म और राजनीति का समन्वय करके चलते थे। शांतिकुंज के सूत्रधार ने सन् १९३० से सन् १९४७ कब आजादी की लड़ाई लड़ी है। जेल में कठोर यातनाएँ सही हैं। बाद में साहित्य के माध्यम से समाज एवं राष्ट्र का मार्गदर्शन किया है। धर्म और राजनीति के समन्वय साहचर्य के लिए जो बन पड़ा है, हम उसे पूरे मनायोग से करते रहे हैं।

आद्य शंकराचार्य ने ज्योतिर्मठ में तप किया एवं चार धामों की स्थापना देश के चार कोनों पर की। विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय एवं धार्मिक संस्थानों के माध्यम से जन जागरण उनका लक्ष्य था। शांतिकुंज के तत्त्वावधान में २४०० गायत्री शक्तिपीठें विनिर्मित हुई हैं, जहाँ से धर्म धारणा को समुन्नत करने का कार्य निरंतर चलता रहता है। इसके अतिरिक्त बिना इमारत वाले चल प्रज्ञा संस्थानों एवं स्वाध्याय मंडलों द्वारा सारे देश में चेतना केंद्रों का जाल बिछाया गया है। ये सभी चार धामों की परंपरा में अपने–अपने क्षेत्रों में युग चेतना का आलोक वितरण कर रहे हैं।

ऋषि पिप्पलाद ने ऋषिकेश के समीप ही अन्न के मन पर प्रभाव का अनुसंधान किया था। वे पीपल वृक्ष के फलों पर निर्वाह करके आत्म संयम द्वारा ऋषित्त्व पा सके। हमने २४ वर्ष तक जौ की रोटी एवं छाछ पर रहकर गायत्री अनुष्ठान किए। तदुपरांत आजीवन उबले आहार, अन्न शाक पर ही रहे। अभी भी उबले अन्न एवं हरी वनस्पतियों के कल्प प्रयोगों की प्रतिक्रिया जाँच–पड़ताल शांतिकुंज में अमृताशन शोध के नाम से चलती रही है। ऋषिकेश में ही सूत शौनिक कथा पुराण वाचन के ज्ञान

सत्र जगह–जगह लगाते थे। प्रज्ञा पुराणों का कथा वाचन इतना लोकप्रिय हुआ है कि लोग इसे युग पुराण कहते हैं। चार भाग इसके छप चुके हैं, चौदह और प्रकाशित होने हैं।

हर की पौढ़ी हरिद्वार में सर्वमेध यज्ञ में हर्षवर्धन ने अपनी सारी संपदा तक्षशिला विश्वविद्यालय निर्माण हेतु दान कर दी थी। शांतिकुंज के सूत्रधार ने अपनी लाखों की संपदा गायत्री तपोभूमि तथा जन्मभूमि में विद्यालय निर्माण हेतु दे दी। स्वयं या संतान के लिए इनमें से एक पैसा भी नहीं रखा। इसी परंपरा को अब शांतिकुंज से स्थायी रूप से जुड़ते जा रहे लोकसेवी निभा रहे हैं।

कणाद ऋषि ने अथर्ववेदीय शोध परंपरा के अतर्गत अपने समय में अणु विज्ञान का वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का अनुसंधान किया था। बुद्धिवादियों के गले उतारने के लिए समय के अनुरूप अब आप्तवचनों के साथ–साथ तर्क, तथ्य एवं प्रमाण भी अनिवार्य है। ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान में अध्यात्मदेव एवं विज्ञान–दैत्य के समन्वय का समुद्र मंथन चल रहा है। दार्शनिक अनुसंधान ही नहीं, वैज्ञानिक प्रमाणों का प्रस्तुतिकरण भी इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसकी उपलब्धियों के प्रति संसार बड़ी–बड़ी आशाएँ लगाए बैठा है।

बुद्ध के परिव्राजक संसार भर के धर्मचक्र प्रवर्तन हेतु दीक्षा लेकर निकले थे। शांतिकुंज में, मात्र अपने देश में धर्मधारणा के विस्तार हेतु ही नहीं, संसार के सभी देशों में देव संस्कृति का संदेश पहुँचाने हेतु परिव्राजक दीक्षित होते हैं। यहाँ आने वाले परिजनों को धर्म चेतना से अनुप्राणित किया जाता है। भारत में ही प्रायः एक लाख प्रज्ञा पुत्र प्रवृज्या में निरत रह कर घर–घर अलख जगाने का कार्य कर रहे हैं।

आर्यभट्ट ने सौर मंडल के ग्रह–उपग्रहों का ग्रह गणित कर यह जाना था कि पृथ्वी के साथ सौर परिवार का क्या आदान–प्रदान क्रम है और इस आधार पर धरित्री का वातावरण एवं प्राणी समुदाय कैसे प्रभावित होता है। शांतिकुंज में एक समग्र वेधशाला बनाई गई है एवं आधुनिक यंत्रों का उसके साथ–साथ समन्वय स्थापित कर ज्योतिर्विज्ञान का

अनुसंधान किया जा रहा है। दृश्य गणित पंचांग यहाँ की एक अनोखी देन है।

चैतन्य महाप्रभु, संत ज्ञानेश्वर, समर्थ गुरु रामदास, प्राणनाथ महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस आदि सभी मध्यकालीन संतों की धर्मधारणा विस्तार परंपरा का अनुसरण शांतिकुंज में किया गया है।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग यह है कि इस आश्रम का वातावरण इतने प्रबल संस्कारों से युक्त है कि सहज ही व्यक्ति अध्यात्म की ओर प्रेरित होता चला जाता है। यह सूक्ष्म सत्ताधारी ऋषियों की यहाँ उपस्थिति की ही परिणति है। वे अपने द्वारा संपन्न क्रियाओं का यह पुनर्जीवन देखते होंगे तो निश्चय ही प्रसन्न होकर भावभरा आशीर्वाद देते होंगे। ऋषियों के तप प्रताप से ही यह धरती देवमानवों से धन्य हुई है। बाल्मीकि आश्रम में लवकुश एवं कण्व के आश्रम में चक्रवर्ती भरत विकसित हुए। कृष्ण–रुक्मणी ने बद्री नारायण में तप करके कृष्ण सदृश्य प्रद्युम्न को जन्म दिया था। पवन एवं अंजनी ने तपस्वी पूषा के आश्रम में बजरंग बली को जन्म दिया। यह हिमालय क्षेत्र में बन पड़ी तप साधना के ही चमत्कारी वरदान थे।

संस्कारवान क्षेत्र एवं तपस्वियों के संपर्क लाभ के अनेक विवरण हैं। स्वाँति बूँद के पड़ने से सीप में मोती बनते हैं, बाँस में वंशलोचन एवं केले में कपूर, चंदन के निकटवर्ती झाड़–झंखाड़ भी उतने ही सुगंधित हो जाते हैं। पारस स्पर्श कर लोहा सोना बन जाता है। हमारे मार्गदर्शक सूक्ष्म शरीर से पृथ्वी के स्वर्ग इसी हिमालय क्षेत्र में शताब्दियों से रहते आए हैं, जिसके द्वार पर हम बैठे हैं। हमारी बैटरी चार्ज करने के लिए समय–समय पर वे बुलाते रहते हैं। जब भी उन्हें नया काम सौंपना हुआ है, तब नई शक्ति देने हमें वहीं बुलाया गया है और लौटने पर हमें नया शक्ति भंडार भर कर वापस आने का अनुभव हुआ है।

हम प्रज्ञापुत्रों को, जाग्रत आत्माओं को युग परिवर्तन में रीछ, वानरों की, ग्वाल–बालों की भूमिका निभाने की क्षमता अर्जित करने के लिए शिक्षण पाने या साधना करने के निमित्त

बहुधा शांतिकुंज बुलाते रहते हैं। इस क्षेत्र की अपनी विशेषता है। गंगा की गोद, हिमालय की छाया, प्राण चेतना से भरा–पूरा वातावरण एवं दिव्य संरक्षण यहाँ उपलब्ध है। इसमें थोड़े समय भी निवास करने वाले अपने में कायाकल्प जैसा परिवर्तन हुआ अनुभव करते हैं। उन्हें लगता है कि वस्तुतः किसी जाग्रत तीर्थ में निवास करके अभिनव चेतना उपलब्ध करके वे वापस लौट रहे हैं। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक सैनिटोरियम है।

साठ वर्ष से जल रहा अखंड दीपक, नौ कुंड की यज्ञशाला में नित्य दो घंटे यज्ञ, दोनों नवरात्रियों में २४–२४ लक्ष गायत्री महापुरश्चरण साधना आरण्यक में नित्य गायत्री उपासकों द्वारा नियमित अनुष्ठान, इन सब बातों से ऐसा दिव्य वातावरण यहाँ विनिर्मित होता है जैसा मलयागिरि में चंदन वृक्षों की मनभावन सुगंध का। बिना साधना किए भी यहाँ वैसा ही आनंद आता है, मानों यह समय तप साधना में बीता। शांतिकुंज गायत्री तीर्थ की विशेषता यहाँ सतत् दिव्य अनुभूति होने की है। यह संस्कारित सिद्ध पीठ है, क्योंकि यहाँ सूक्ष्म शरीरधारी वे सभी ऋषि क्रिया–कलापों के रूप में विद्यमान हैं, जिनका वर्णन हमने किया है।

उपरोक्त पंक्तियों में ऋषि परंपरा की टूटी कड़ियों में से कुछ को जोड़ने का वह उल्लेख है जो पिछले दिनों अध्यात्म और विज्ञान की, ब्रह्मवर्चस् शोध साधना द्वारा संपन्न किया जाता रहा है। ऐसे प्रसंग एक नहीं अनेकों हैं, जिन पर पिछले साठ वर्षों से प्रयत्न चलता रहा है और यह सिद्ध किया जाता रहा है कि लगनशीलता, तत्परता यदि उच्चस्तरीय प्रयोजनों में संलग्न हो तो उसके परिणाम कितने महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

सबसे बड़ा और प्रमुख काम अपने जीवन का एक ही है कि प्रस्तुत वातावरण को बदलने के लिए दृश्य और अदृश्य प्रयत्न किए जाएँ। इन दिनों आस्था संकट सघन है। लोग नीति और मर्यादा को तोड़ने पर बुरी तरह उतारू हैं। फलतः अनाचारों की अभिवृद्धि से अनेकानेक संकटों का माहौल बन गया है। न व्यक्ति सुखी है, न समाज में स्थिरता है। समस्याएँ, विपत्तियाँ,

विभीषिकाएँ निरंतर बढ़ती जा रही हैं। सुधार के प्रयत्न कहीं भी सफल नहीं हो रहे हैं। स्थिर समाधान के लिए जनमानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्धन यह दो ही उपाय हैं। यह प्रत्यक्ष, रचनात्मक, संगठनात्मक, सुधारात्मक उपयोग द्वारा भी चलने चाहिए और अदृश्य आध्यात्मिक उपचारों द्वारा भी। विगत जीवन में यही किया गया है। समूची सामर्थ्य को इसी में होमा गया है। परिणाम आश्चर्यजनक हुए हैं, जो होने वाला है, अगले दिनों अप्रत्याशित कहा जाएगा। एक शब्द में यह ब्राह्मण मनोभूमि द्वारा अपनाई गई संत परंपरा अपनाने में की गई तत्परता है। इस प्रकार के प्रयासों में निरत व्यक्ति अपना भी कल्याण करते हैं, दूसरे अनेकानेक का भी।

हमारी प्रत्यक्ष सिद्धियाँ

संपदा एकत्रित होती है, तो उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। शरीर से स्वस्थ मनुष्य बलिष्ठ और सुंदर दीखता है। संपदा वालों के ठाठ–बाठ बढ़ जाते हैं। बुद्धिमानों का वैभव वाणी, रहन–सहन में दिखाई पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक संपदा बढ़ने पर उसका प्रभाव भी स्पष्ट उदीयमान होता दृष्टिगोचर होता है। साधना से सिद्धि का अर्थ होता है, असाधारण सफलताएँ। साधारण सफलताएँ तो सामान्य जन भी अपने पुरुषार्थ और साधनों के सहारे प्राप्त करते रहते हैं और कई तरह की सफलताएँ अर्जित करते रहते हैं। अध्यात्म क्षेत्र बड़ा और ऊँचा है, इसलिए उसकी सिद्धियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जिन्हें सामान्यजनों के एकाकी प्रयास से न बन पड़ने वाली, अधिक ऊँचे स्तर की मानी जा सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आध्यात्मिकता का अवमूल्यन होते–होते वह बाजीगरी स्तर पर पहुँच गई है और सिद्धियों का तात्पर्य लोग किसी ऐसे ही अजूबे से समझने लगे हैं, जो कौतुक–कौतूहल उत्पन्न करता हो। दर्शकों को अंचभे में डालता हो। भले ही वे अचरज सर्वथा निरर्थक ही क्यों न हो? बालों में से खाल निकाल लेना कोई ऐसा काम नहीं है कि जिसके बिना किसी का काम रुकता हो या फिर किसी का उससे बहुत बड़ा हित होने वाला हो। असाधारण कृत्य, चकाचौंध में डालने वाले करतब ही बाजीगर लोग दिखाते रहते हैं। इसी के सहारे वाहवाही लूटते और पैसा कमाते हैं, किंतु इनके कार्यों में से एक भी ऐसा नहीं होता कि जिससे जन–हित का कोई प्रयोजन पूरा होता हो। कौतूहल दिखाकर अपना बड़प्पन सिद्ध करना उनका उद्देश्य होता है। इसके सहारे वे अपना गुजारा चलाते हैं। सिद्ध पुरुषों में भी कितने ही ऐसे होते हैं, जो ऐसी कुछ हाथों की सफाई दिखाकर अपनी सिद्धियों का विज्ञापन

करते रहते हैं। हवा में हाथ मारकर इलायची या मिठाई मँगा देने, नोट दूने कर देने जैसे कृत्यों के बहाने चमत्कृत करके कितने ही भोले लोगों को ठग लिए जाने के समाचार आए दिन सुनने को मिलते रहते हैं। लोगों का बचपना है, जो बाजीगरी–कौतुकी और अध्यात्म क्षेत्र की सिद्धियों का अंतर नहीं कर पाते। बाजीगरों और सिद्ध पुरुषों के जीवन क्रम में स्तर में जो मौलिक अंतर रहता है, उसे पहचानना आवश्यक है।

साधना से सिद्धि का तात्पर्य उन विशिष्ट कार्यों से है, जो लोक–मंगल से संबंधित होते हैं और इतने बड़े भारी तथा व्यापक होते हैं, जिन्हें कोई एकाकी संकल्प या प्रयास के बल पर नहीं कर सकता फिर भी वे उसे करने का दुस्साहस करते हैं और आगे बढ़ने का कदम उठाते हैं और अंततः असंभव लगने वाले कार्य को भी संभव कर दिखाते हैं। समयानुसार जन सहयोग उन्हें भी मिलता रहता है। जब सृष्टि नियमों के अनुसार हर वर्ग के मनस्वी को सहयोग मिलते रहते हैं तब कोई कारण नहीं कि श्रेष्ठ कामों पर वह विधान लागू न होता हो। प्रश्न एक ही है अध्यात्मवादी साधनों और सहयोगों के अभाव में भी कदम बढ़ाते हैं और आत्मविश्वास तथा ईश्वर–विश्वास के सहारे नाव खेकर पार जाने का भरोसा रखते हैं। सामान्यजनों की मनःस्थिति ऐसी नहीं होती। वे सामने साधन सहयोग की व्यवस्था देख लेते हैं तभी हाथ डालते हैं।

साधनारत सिद्ध पुरुषों द्वारा महान् कार्य संपन्न होते रहे हैं। यही उनका सिद्ध चमत्कार है। देश में स्वतंत्रता आंदोलन आरंभ कराने के लिए समर्थ गुरु रामदास एक मराठा बालक को आगे करके जुट गए और उसे आश्चर्यजनक सीमा तक बढ़ाकर रहे। बुद्ध ने संव्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध विश्वव्यापी बुद्धवादी आंदोलन चलाया और उसे समूचे संसार तक विशेषतया एशिया के कोने–कोने में पहुँचाया। गाँधी ने सत्याग्रह आंदोलन छेड़ा। मुट्ठी भर लोगों के साथ धरसना में नमक बनाने के साथ शुरू किया। अंततः इसका कैसा विस्तार और कैसा परिणाम हुआ, यह सर्वविदित है। बिनोवा द्वारा एकाकी आरंभ किया गया भूदान आंदोलन कितना व्यापक और सफल हुआ।

यह किसी से छिपा नहीं है। स्काऊटिंग, रेडक्रास आदि कितने ही आंदोलन छोटे रूप में आरंभ हुए और वे कहीं से कहीं जा पहुँचे। राजस्थान का वनस्थली बालिका विद्यालय, बालासाहब आम्टे का अपंग एवं कुष्ट रोगी सेवा सदन ऐसे ही दृश्य मान कृत्य हैं, जिन्हें साधना से सिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जा सके। ऐसी अगणित घटनाएँ संसार में संपन्न हुई हैं, जिनमें आरंभ कर्त्ताओं का कौशल, साधन एवं सहयोग नगण्य था, पर आत्मबल असीम था। इतने भर से गाड़ी चल पड़ी और जहाँ–तहाँ से तेल–पानी प्राप्त करती हुई क्रमशः पूर्व से अगली मंजिल तक जा पहुँची। सद्देश्यों की ऐसी पूर्ति के पीछे साधना से सिद्धि की झाँकी देखी जा सकती है।

हमारी जीवन साधना की परिणतियाँ यदि कोई सिद्धि स्तर पर ढूँढना चाहे तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। हर कदम अपने कौशल और उपलब्ध साधनों की सीमा से बहुत ऊँचे स्तर का उठा है। आरंभ करते समय सिद्धि का पर्यवेक्षण करने वालों ने इसे मूर्खता कहा और पीछे उपहासास्पद बनते फिरने की चेतावनी भी दी, किंतु मन में इस ईश्वर के साथ रहने का अटूट विश्वास रहा जिसकी प्रेरणा उसे हाथ में लेने को उठा रही थी। लिप्सारहित अंतःकरणों में प्रायः ऐसे ही संकल्प उठते जो सीधे लोकमंगल से संबंधित हों और जिनके पीछे दिव्य सहयोग मिलने का विश्वास हो।

साधना की ऊर्जा सिद्धि के रूप में परिपक्व हुई तो उसने सामयिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाले किसी कार्य में उसे खपा देने का निश्चय किया। कार्य आरंभ हुआ और आश्चर्य इस बात का है कि सहयोग का साधन जुटाने का वातावरण दीखते हुए ही प्रयास इस प्रकार अग्रगामी बने मानों वे सुनिश्चत रहे हों और किसी ने उसकी पूर्व से ही सांगोपांग व्यवस्था बना रखी हो। पर्यवेक्षकों में से अनेकों ने इसे आरंभ में दुस्साहस कहा था लेकिन सफलताएँ मिलती चलने पर वे उस सफलता को साधना की सिद्धि कहते चले गए।

इन दुस्साहसों की छुटपुट चर्चा तो की जा चुकी है। उन सबको पुनः दुहराया जा सकता है।

१–पंद्रह वर्ष की आयु में चौबीस वर्ष तक गायत्री महापुरश्चरण, चौबीस वर्ष में पूरा करने का अनेक अनुबंधों के साथ जुड़ा हुआ संकल्प लिया गया। वह बिना लड़खड़ाए नियत अवधि में संपन्न हो गया।

२–इस महापुरश्चरण की पूर्णाहुति में निर्धारित जप का हवन करना था। देश भरके गायत्री उपासक आशीर्वाद देने आमंत्रित करने थे। पता लगाकर ऐसे चार लाख पाए गए और वे सभी मथुरा में सन १९५८ में सहस्त्र कुंडी यज्ञ में आमंत्रित किए गए। प्रसन्नता की बात थी कि उनमें से एक भी अनुपस्थित नहीं रहा। पाँच दिन तक निवास, भोजन, यज्ञ आदि का निशुल्क प्रबंध रहा। विशाल यज्ञशाला, प्रवचन मंच, रोशनी, पानी, सफाई आदि का सुनियोजित प्रबंध था। सात मील के घेरे में सात नगर बसाए गए। सारा कार्य निर्विघ्न पूरा हुआ। लाखों का खर्च हुआ, पर उसकी पूर्ति बिना किसी के आगे पल्ला पसारे ही होती रही।

३–गायत्री तपोभूमि मथुरा के भव्य भवन का निर्माण शुभारंभ अपनी पैतृक संपत्ति बेचकर किया। पीछे लोगों की आयाचित सहायता से उसका ''धर्मतंत्र से लोक शिक्षण'' का उत्तरदायित्त्व संभालने वाले केंद्रों के रूप में विशालकाय ढाँचा खड़ा हुआ।

४–अखंड–ज्योति का सन् १९३७ से अनवरत प्रकाशन। बिना विज्ञापन और चंदा माँगे, लागत मूल्य पर निकलने वाली, गाँधी की हरिजन पत्रिका जबकि घाटे के कारण बंद करनी पड़ी थी, तब अखंड–ज्योति अनेकों मुसीबतों का सामना करती हुई निकलती रही और अभी एक लाख पचास हजार की संख्या में छपती है, एक अंक को कई पढ़ते हैं इस दृष्टि से पाठक दस लाख से कम नहीं है।

५–साहित्य सृजन। आर्षग्रंथों का अनुवाद तथा व्यावहारिक जीवन में अध्यात्म सिद्धांतों का सफल समावेश करने वाली नितांत सस्ती, किंतु अत्यंत उच्चस्तरीय पुस्तकों का प्रकाशन। इनका अन्यान्य भाषाओं में अनुवाद। यह लेखन इतना है कि जिसे एक मनुष्य के शरीर भार के

समान तोलने पर भी अधिक ही होगा। इसे करोड़ों ने पढ़ा है और नया प्रकाश पाया है।

६–गायत्री परिवार का गठन–उसके द्वारा लोकमानस के परिष्कार के लिए प्रज्ञा अभियान का और सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए युग निर्माण योजना का कार्यान्वयन। दोनों के अंतर्गत लाखों जागृत आत्माओं का एकीकरण। सभी का अपने–अपने ढंग से नव सृजन भाव–भरा योगदान।

७–युग शिल्पी प्रज्ञा पुत्रों के लिए आत्मनिर्माण–लोक निर्माण की समग्र पाठ्य–विधि का निर्धारण और सत्र योजना के अंतर्गत नियमित शिक्षण, दस–दस दिन के गायत्री साधना सत्रों की ऐसी व्यवस्था जिसमें साधकों के लिए निवास भोजन आदि का भी प्रबंध है।

८–अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की शोध के लिए ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की स्थापना। इसमें यज्ञ विज्ञान एवं गायत्री महाशक्ति का उच्चस्तरीय अनुसंधान चलता है। इसी उपक्रम को आगे बढ़ाकर जड़ी–बूटी विज्ञान की चरक कालीन प्रक्रिया का अभिनव अनुसंधान हाथ में लिया गया है। इसके साथ ही खगोल विद्या की टूटी हुई कड़ियों को नए सिरे से जोड़ा जा रहा है।

९–देश के कोने–कोने में २४०० निजी इमारत वाली प्रज्ञा पीठ और बिना इमारत वाले ७५०० प्रज्ञा संस्थानों की स्थापना करके नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की युगांतरीय चेतना को व्यापक बनाने का सफल प्रयत्न। इस प्रयास को ७४ देशों के प्रवासी भारतीयों में भी विस्तृत किया गया है।

१०–देश की समस्त भाषाओं तथा संस्कृतियों के अध्ययन, अध्यापन का एक अभिनव केंद्र स्थापित किया गया है ताकि हर वर्ग के लोगों तक नवयुग की विचारधारा को पहुँचाया जा सके। प्रचारक हर क्षेत्र में पहुँच सकें। अभी तो जन–जागरण के प्रचारक जत्थे जीप, गाड़ियों के माध्यम से हिंदी, गुजराती, उड़िया, मराठी क्षेत्रों में ही जाते हैं। अब वे देश के कोने–कोने

में पहुँचेंगे और पवित्रता, प्रखरता एवं एकात्मता की जड़ें मजबूत करेंगे।

११–प्रचार तंत्र अब तक टैप रिकार्डरों और स्लाइड प्रोजेक्टरों के माध्यम से ही चलता रहा है। अब उसमें वीडियों फिल्म निर्माण की एक कड़ी और जोड़ी जा रही है।

१२–प्रज्ञा अभियान की विचारधारा को फोल्डर योजना के माध्यम से देश की सभी भाषाओं में प्रसारित किया जा रहा है ताकि कोई कोना ऐसा न बचे, जहाँ नव चेतना का वातावरण न बने।

१३–प्रज्ञा पुराण के पाँच खंडों का प्रकाशन हर भाषा में तथा उसके टैप प्रवचनों का निर्माण। इस आधार पर नवीनतम समस्याओं का पुरातन कथा आधार पर समाधान का प्रयास।

१४–प्रतिदिन शांतिकुंज के भोजनालय में शिक्षार्थियों, अतिथियों और तीर्थयात्रियों की संख्या प्रायः एक हजार रहती है। किसी से कोई मूल्य नहीं माँगा जाता। सभी भावश्रद्धा से प्रसाद ग्रहण करके ही जाते हैं।

अगणित व्यक्ति गायत्री तीर्थ में आकर अनुष्ठान साधना करते रहे हैं। इससे उनके व्यक्तित्त्व में परिष्कार हुआ है, मनोविकारों से मुक्ति मिली है एवं भावी जीवन की रीति–नीति निर्धारित करने में मदद मिली है। विज्ञान सम्मत पद्धति से ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान में उनका पर्यवेक्षण कर इसे सत्यापित भी किया गया है।

उपरोक्त प्रमुख कार्यों और निर्धारणों को देखकर सहज बुद्धि यह अनुमान लगा सकती है कि इनके लिए श्रम, मनोयोग, साधन, कितनी बड़ी संख्या में कितने लोगों के लगे होंगे, इसकी कल्पना करने पर प्रतीत होता है कि सब सरंजाम पहाड़ जितना होना चाहिए। उसे उठाने, आमंत्रित, एकत्रित करने में एक व्यक्ति की अदृश्य शक्ति भर काम करती रही है। प्रत्यक्ष याचना की, अपील की, चंदा जमा करने की प्रक्रिया कभी अपनाई नहीं गई। जो कुछ चला है स्वेच्छा से सहयोग से चला है। सभी जानते हैं कि आजकल धन जमा करने के लिए कितने

दबाव, आकर्षण और तरीके काम में लाने पड़ते हैं, पर मात्र यही एक ऐसा मिशन है, जो दस पैसा प्रतिदिन के ज्ञानघट और एक मुट्ठी अनाज वाले धर्मघट स्थापित करके अपना काम भली प्रकार चला लेता है। जो इतनी छोटी राशि देता है, वह यह भी अनुभव करता है कि संस्था हमारी है, हमारे श्रम सहयोग से चल रही है फलतः उसकी आत्मीयता भी सघनता पूर्वक जुड़ी रहती है। संचालकों को भी इतने लोगों के सामने उत्तरदायी होने, जबाव देने का ध्यान रखते हुए एक–एक पाई का खर्च फूँक–फूँक कर करना पड़ता है। कम पैसे में इतने बड़े काम चल पड़ने और सफल होने का रहस्य यह लोकप्रियता ही है।

निःस्वार्थ निस्पृह और उच्चस्तरीय व्यक्तित्त्व वाले जितने कार्यकर्त्ता इस मिशन के पास हैं, उतने अन्य किसी संगठन के पास कदाचित ही हों। इसका कारण एक ही है, संचालन सूत्र को अधिकाधिक निकट से परखने के उपरांत यह विश्वास करना कि यहाँ ब्राह्मण आत्मा सही काम करती है। बुद्ध को लोगों ने परखा और लाखों परिब्राजक घर–बार छोड़कर इनके अनुयायी बने। गाँधी के सत्याग्रहियों ने भी वेतन नहीं माँगा। इन दिनों हर संस्था के पास वैतनिक कर्मचारी काम करते हैं, तब मात्र प्रज्ञा अभियान ही एक मात्र ऐसा तंत्र है जिसमें हजारों लोग उच्चस्तरीय योग्यता होते हुए भी मात्र भोजन वस्त्र पर निर्वाह करते हैं।

इतने व्यक्तियों का श्रम–सहयोग बूँद–बूँद करके लगने वाला इतना धन साधन किस प्रकार चुंबकत्त्व से खिंचता हुआ चला आता है, वह भी एक सिद्धि का चमत्कार है, जो अन्यत्र कदाचित कहीं दिखाई पड़े।

पिछले दिनों बार–बार हिमालय जाने और एकांत साधना करने का निर्देश निबाहना पड़ा। इसमें क्या देखा? इसकी जिज्ञासा बड़ी आतुरता पूर्वक सभी करते हैं। उनका तात्पर्य, किन्हीं यज्ञ, गंधर्व, राक्षस, बेताल, सिद्ध पुरुष से भेंट वार्ता रही हो। उनकी उछल–कूद देखी हो। अदृश्य और प्रकट होने वाले कुछ जादुई गुटके लिए हों। इन जैसी घटनाएँ सुनाने का मन होता है। वे समझते हैं कि हिमालय माने जादू का पिटारा। वहाँ

जाते ही कोई करामाती बाबा डिब्बे में से भूत की तरह उछल पड़ते होंगे और जो कोई उस क्षेत्र में जाता है, उसे उन कौतूहलों–करतूतों को दिखाकर मुग्ध करते रहते होंगे। वस्तुतः हिमालय हमें अधिक अंतर्मुखी होने के लिए जाना पड़ा। बहिरंग जीवन पर घटनाएँ छाई रहती हैं और अंतःक्षेत्र पर भावनाएँ। भावनाओं का वर्चस्व ही अध्यात्मवाद है। कामनाओं और वस्तुओं की घुड़दौड़, भौतिकवाद। चूँकि अपना जीवन क्रम दोनों का संगम रहा है, इसलिए बीच–बीच में एकांत में बहिरंग के जमे हुए प्रभावों को निरस्त करने की आवश्यकता पड़ती रही है। आत्मा को प्रकृति सान्निध्य से जितना बन पड़ा उतना हटाया है और आत्मा को परमात्मा के साथ जितना निकट ला सकना संभव था, उतना हिमालय के अज्ञातवास में किया है। आहार–विहार में परिस्थितिवश अधिक सात्त्विकता का समावेश होता ही रहा है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात हुई है–उच्चस्तरीय भाव–संवेदनाओं का उन्नयन और रसास्वादन। इसके लिए व्यक्तियों की, साधनों की, परिस्थितियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसा भी भला–बुरा सामने प्रस्तुत है, उसी पर अपने भाव–चिंतन का आरोपण करके ऐसा स्वरूप बनाया जा सकता है, जिससे कुछ का कुछ दीखने लगे। कण–कण में भगवान् की, उसकी रस संवेदना की झाँकी होने लगे।

जिनने हमारी ''सुनसान के सहचर'' पुस्तक पढ़ी है, उनने समझा होगा कि सामान्य घटनाओं और परिस्थितियों में भी अपनी उच्च भावनाओं का समावेश करके किस प्रकार स्वर्गीय उमंगों से भरा पूरा वातावरण गठित किया जा सकता है और उसमें निमग्न रहकर सत–चित्, आनंद की अनुभूति हो सकती है। यह भी एक उच्चस्तरीय सिद्धि है। इसे हस्तगत करके हम इसी सर्वसाधारण जैसी जीवनचर्या में निरत रहते हुए स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की तरह आनंद मग्न रहते रहे हैं।

चौथा और अंतिम निर्देशन

चौथी बार गत वर्ष पुनः हमें एक सप्ताह के लिए हिमालय बुलाया गया। संदेश पूर्ववत संदेश रूप में आया। आज्ञा के परिपालन में विलंब कहाँ होना था। हमारा शरीर सौंपे हुए कार्यक्रमों में खटता रहा है, किंतु मन सदैव दुर्गम हिमालय में अपने गुरु के पास रहा है। कहने में संकोच होता है, पर प्रतीत ऐसा ही होता है कि गुरुदेव का शरीर हिमालय में रहता है और मन हमारे इर्द-गिर्द मँडराता रहता है। उनकी वाणी अंतराल में प्रेरणा बनकर गूँजती रहती है। उसी चाबी के कसे जाने पर हृदय और मस्तिष्क का पेंडुलम धड़कता और उछलता रहता है।

यात्रा पहली तीनों बार की ही तरह कठिन रही। इस बार साधक की परिपक्वता के कारण सूक्ष्म शरीर को आने का निर्देश मिला था। उसी काया को एक साथ तीन परीक्षाओं को पुनः देना था। साधना क्षेत्र में एक बार उत्तीर्ण हो जाने के पर पिसे को पीसना भर रह जाता है। मार्ग देखा भाला था। दिनचर्या बनी बनाई थी। गोमुख से साथ मिल जाना और तपोवन तक सहज जा पहुँचना यही क्रम पुनः चला। उनका सूक्ष्म शरीर कहाँ रहता है, क्या करता है यह हमने कभी नहीं पूछा। हमें तो भेंट का स्थान मालूम है, मखमली गलीचा। ब्रह्मकमल की पहचान हो गई थी। उसी को ढूँढ लेते और उसी को प्रथम मिलन पर गुरुदेव के चरणों पर चढ़ा देते। अभिवंदन-आशीर्वाद के शिष्टाचार में तनिक भी देर न लगती और काम की बात तुरंत आरंभ हो जाती। यही प्रकरण इस बार भी दुहराया गया। रास्ते में मन सोचता आया कि जब भी जितनी बार भी बुलाया गया है तभी पुराना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा है। इस बार भी संभवतः वैसा ही होगा। शांतिकुंज छोड़ने के उपरांत संभवतः अब इसी ऋषि प्रदेश में आने का आदेश मिलेगा और इस बार

कोई काम पिछले अन्य कामों की तुलना में बड़े कदम के रूप में उठाना होगा। रास्ते के संकल्प विकल्प थे। अब तो प्रत्यक्ष भेंट हो रही थी।

अब तक के कार्यों पर उनने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। हमने इतना ही कहा–''काम आप करते हैं और श्रेय मुझ वानर जैसे को देते हैं। समग्र समर्पण कर देने के उपरांत यह शरीर और मन दीखने भर के लिए ही अलग हैं, वस्तुतः यह सब कुछ आपकी ही संपदा है। जब जैसा चाहते हैं, तब वैसा तोड़–मोड़कर आप ही उपयोग कर लेते हैं।''

गुरुदेव ने कहा–''अब तक जो बताया और कराया गया है, वह नितांत स्थानीय था और सामान्य भी। ऐसा वरिष्ठ मानव कर सकते हैं, भूतकाल में करते भी रहे हैं। तुम अगला काम संभालोगे, तो यह सारे कार्य दूसरे तुम्हारे अनुवर्ती लोग आसानी से करते रहेंगे। जो प्रथम कदम बढ़ाता है, उसे अग्रणी होने का श्रेय मिलता है। पीछे तो ग्रह–नक्षत्र भी–सौर मंडल के सदस्य भी अपनी–अपनी कक्षा पर बिना किसी कठिनाई के ढर्रा चला ही रहे हैं। अगला काम इससे भी बड़ा है। स्थूल वायु मंडल और सूक्ष्म वातावरण इन दिनों विषाक्त हो गए हैं, जिससे मानवी गरिमा ही नहीं, दैवीय सत्ता भी संकट में पड़ गई है। भविष्य बहुत भयानक दीखता है। इससे परोक्षतः लड़ने के लिए हमें–तुम्हें वह सब कुछ करना पड़ेगा, जिसे अद्‌भुत एवं अलौकिक कहा जा सके।

धरती का घेरा–वायु, जल और जमीन तीनों ही विषाक्त हो रहे हैं, वैज्ञानिक कुशलता के साथ अर्थ लोलुपता के मिल जाने से चल पड़े यंत्रीकरण ने सर्वत्र विष बिखेर दिया है और ऐसी स्थिति पैदा कर दी है, जिसमें दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु का जोखिम हर किसी के सिर पर मँडराने लगा है। अणु आयुधों के अनाड़ियों के हाथों प्रयोगों का खतरा इतना बड़ा है कि उसके तनिक से व्यतिक्रम पर सब कुछ भस्मसात् हो सकता है। प्रजा की उत्पत्ति बरसाती घास–पत्ती की तरह हो रही है। यह खाएँगे क्या? रहेंगे कहाँ इन दिनों सब विपत्तियों–विभीषिकाओं से विषाक्त वायुमंडल धरती को नरक बना देगा।''

जिस हवा में लोग साँस ले रहे हैं, उसमें जो भी साँस लेता है, वह अचिंत्य चिंतन अपनाता और दुष्कर्म करता है। दुर्गति हाथों–हाथ सामने आती जाती है। यह अदृश्य लोक में भर गए विकृत वातावरण का प्रतिफल है। इस स्थिति में जो भी रहेगा, नर पशु और नर–पिशाच जैसे क्रिया–कृत्य करेगा। भगवान् की इस सर्वोत्तम कृति धरती और मानव सत्ता को इस प्रकार नरक बनते देखने में व्यथा होती है। महाविनाश की संभावना से कष्ट होता है। इस स्थिति को बदलने, इस समस्या का समाधान करने के लिए भारी गोवर्धन पर्वत उठाना पड़ेगा, लंबा समुद्र लाँघना पड़ेगा। इसके लिए वामन जैसे बड़े कदम उठाने को ही तुम्हें बुलाया गया है।

इसके लिए तुम्हें एक से पाँच बनकर मोर्चों पर लड़ना पड़ेगा। कुंती के समान अपनी एकाकी सत्ता को निचोड़कर पाँच देवपुत्रों को जन्म देना होगा, जिन्हें भिन्न–भिन्न मोर्चों पर भिन्न–भिन्न भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ेंगी।

मैंने बात के बीच में विक्षेप करते हुए कहा–''यह तो आपने परिस्थितियों की बात कही। इतना सोचना और समस्या का समाधान खोजना आप बड़ों का काम है। मुझ बालक को तो काम बता दीजिए और सदा की तरह कठपुतली के तारों को अपनी ऊँगलियों में बाँधकर नाच नचाते रहिए। परामर्श मत कीजिए। समर्पित को तो केवल आदेश चाहिए। पहले भी आपने जब कोई मूल आदेश स्थूलतः या सूक्ष्म संदेश के रूप में भेजा है, उसमें हमने अपनी ओर से कोई ननुच नहीं की। गायत्री के चौबीस महापुरश्चरणों के संपादन से लेकर स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने तक, लेखनी पकड़ने से लेकर विराट यज्ञोयोजन तक एवं विशाल संगठन खड़ा करने से लेकर करोड़ों की स्थापनाएँ करने तक आपकी आज्ञा, संरक्षण एवं मार्गदर्शन ने ही सारी भूम्िका निभाई है। दृश्य रूप में हम भले ही सबके समक्ष रहे हों, हमारा अंतःकरण जानता है कि यह सब कराने वाली सत्ता कौन है? फिर इसमें हमारा सुझाव कैसा, सलाह कैसी। इस शरीर का एक–एक कण, रक्त की एक–एक बूँद, चिंतन–अंतःकरण आपको, विश्व मानवता को समर्पित है।'' उनने प्रसन्न बदन

स्वीकारोक्ति प्रकट की एवं परावाणी से निर्देश व्यक्त करने का उन्होंने संकेत किया।

बात जो विवेचना स्तर की चल रही थी, सो समाप्त हो गई और सार संकेत के रूप में जो करना था सो कहा जाने लगा।

''तुम्हें एक से पाँच बनना है। पाँच रामदूतों की तरह, पाँच पांडवों की तरह काम पाँच तरह से करने हैं, इसलिए इसी शरीर को पाँच बनाना है। एक पेड़ पर पाँच पक्षी रह सकते हैं। तुम अपने को पाँच बना लो। इसे सूक्ष्मीकरण कहते हैं। पाँच शरीर सूक्ष्म रहेंगे, क्योंकि व्यापक क्षेत्र को संभालना सूक्ष्म सत्ता से ही बन पड़ता है। जब तक पाँचों परिपक्व होकर अपने स्वतंत्र काम न सँभाल सकें, तब एक इसी शरीर से उनका परिपोषण करते रहो। इसमें एक वर्ष भी लग सकता है एवं अधिक समय भी। जब वे समर्थ हो जाएँ तो उन्हें अपना काम करने हेतु मुक्त कर देना। समय आने पर तुम्हारे दृश्यमान स्थूल शरीर की छुट्टी हो जाएगी।''

यह दिशा निर्देशन हो गया। करना क्या है? कैसे करना है? इसका प्रसंग उन्होंने अपनी वाणी में समझा दिया। इसका विवरण बताने का आदेश नहीं है, जो कहा गया है, उसे कर रहे हैं। संक्षेप में इसे इतना ही समझना पर्याप्त होगा—१—वायु मंडल का संशोधन, २—वातावरण का परिष्कार, ३—नवयुग का निर्माण, ४—महाविनाश का निरस्तीकरण समापन, ५—देवमानवों का उत्पादन—अभिवर्द्धन।

''यह पाँचों काम किस प्रकार करने होंगे, इसके लिए अपनी सत्ता को पाँच भागों में कैसे विभाजित करना होगा, भागीरथ और दधीचि की भूमिका किस प्रकार निभानी होगी, इसके लिए अलौकिक क्रिया—कलापों से विराम लेना होगा। बिखराव को समेटना पड़ेगा। यही है—सूक्ष्मीकरण।''

''इसके लिए जो करना होगा, समय—समय पर बताते रहेंगे। योजना को असफल बनाने के लिए, इस शरीर को समाप्त करने के लिए जो दानवी प्रहार होंगे उससे बचाते चलेंगे। पूर्व में हुए आसुरी आक्रमण की पुनरावृत्ति कभी भी

किसी रूप में सज्जनों–परिजनों पर प्रहार आदि के रूप में हो सकती है। पहले की तरह सबमें हमारा संरक्षण साथ रहेगा। अब तक जो काम तुम्हारे जिम्मे दिया है, उन्हें अपने समर्थ सुयोग्य परिजनों के सुपुर्द करते चलना, ताकि मिशन के किसी काम की चिंता या जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर न रहे। जिस महा परिवर्तन का ढाँचा हमारे मन में है, उसे पूरा तो नहीं बताते, पर उसे समयानुसार प्रकट करते रहेंगे। ऐसे विषम समय में उस रणनीति को समय से पूर्व प्रकट करने से उद्देश्य की हानि होगी।"

इस बार हमें अधिक समय रोका नहीं गया। बैटरी चार्ज करके बहुत दिनों तक काम चलाने वाली बात नहीं बनी। उन्होंने कहा कि "हमारी ऊर्जा अब तुम्हारे पीछे अदृश्य रूप में चलती रहेगी। अब हमें एवं जिनको आवश्यकता होगी, उन ऋषियों को तुम्हारे साथ सदैव रहना और हाथ बंटाते रहना पड़ेगा। तुम्हें किसी अभाव का, आत्मिक ऊर्जा की कमी का कभी अनुभव नहीं होगा। वस्तुतः यह ५ गुनी और बढ़ जाएगी।"

हमें विदाई दी गई और हम शांतिकुंज लौट आए। हमारी सूक्ष्मीकरण सावित्री साधना राम नवमी १९८४ से आरंभ हो गई।

तपश्चर्या आत्म–शक्ति के उद्भव हेतु अनिवार्य

अरविंद ने विलायत से लौटते ही अंग्रेजों को भगाने के लिए जो उपाय संभव थे, वे सभी किए, पर बात बनती न दिखाई पड़ी। राजाओं को संगठित करके, विद्यार्थियों की सेना बनाकर, व पार्टी गठित करके उनने देख लिया कि इतनी सशक्त सरकार के सामने यह छुटपुट प्रयत्न सफल न हो सकेंगे। इसके लिए समान स्तर की सामर्थ्य, टक्कर लेने के लिए चाहिए। गाँधी जी के सत्याग्रह जैसा उन दिनों संभव नहीं था। ऐसी दशा में उनने–आत्मशक्ति उत्पन्न करने और उसके द्वारा वातावरण गरम करने का काम हाथ में लिया। अंग्रेजों की पकड़ से अलग हटकर वे पांडिचेरी चले गए और एकांतवास मौन साधना सहित विशिष्ट तप करने लगे।

लोगों की दृष्टि में वह पलायनवाद भी हो सकता था, पर

वस्तुतः वैसा था नहीं। सूक्ष्मदर्शियों के अनुसार उसके द्वारा अदृश्य स्तर की प्रचंड ऊर्जा उत्पन्न हुई। वातावरण गरम हुआ और एक ही समय में देश के अंदर इतने महापुरुष उत्पन्न हुए कि जिसकी इतिहास में अन्यत्र कहीं भी तुलना नहीं मिलती। राजनैतिक नेता कहीं भी उत्पन्न हो सकते हैं और कोई भी हो सकते हैं, किंतु महापुरुष हर दृष्टि से उच्चस्तरीय होते हैं। जिनका व्यक्तित्त्व कहीं अधिक ऊँचा होता है, जनमानस को उल्लसित आंदोलित करने की क्षमता भी उन्हीं में होती है। दो हजार वर्ष की गुलामी में बहुत कुछ गँवा बैठने वाले देश को ऐसे ही कर्णधारों की आवश्यकता थी। वे एक नहीं अनेकों एक ही समय में उत्पन्न हुए। प्रचंड ग्रीष्म में उठते चक्रवातों की तरह। फलतः अरविंद का वह संकल्प कालांतर में ठीक प्रकार संपन्न हुआ जिसे वे अन्य उपायों से पूरा कर सकने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे।

अध्यात्म विज्ञान के इतिहास में उच्चस्तरीय उपलब्धियों के लिए तप–साधना एक मात्र विधान उपचार है। वह सुविधा–भरी–विलासी रीति–नीति अपनाकर संपादित नहीं की जा सकती है। एकाग्रता और एकात्मता संपादित करने के लिए बहुमुखी बाह्यचारों में, प्रचारों प्रयोजनों में भी निरत नहीं रहा जा सकता है। उससे शक्तियाँ बिखरती हैं। फलतः केंद्रीयकरण का वह प्रयोजन पूरा नहीं होता, जो सूर्य किरणों को आतिशी शीशे पर केंद्रित करने की तरह अग्नि उत्पादन जैसी प्रचंडता उत्पन्न कर सके। अठारह पुराण लिखते समय व्यास उत्तराखंड की गुफाओं में वसोधरा शिखर के पास चले गए। साथ में लेखन कार्य की सहायता करने के लिए गणेश जी इस शर्त पर रहे कि एक शब्द भी बोले बिना सर्वथा मौन रहेंगे। इतना महत्त्वपूर्ण कार्य इससे कम में संभव नहीं हो सकता था।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों महर्षि रमण का मौन तप चलता रहा। इसके अतिरिक्त भी हिमालय में अनेक उच्चस्तरीय तपश्चर्याएँ इसी निमित्त चलीं। राजनेताओं द्वारा संचालित आंदोलनों को सफल बनाने में इस अदृश्य सूत्र संचालन का कितना बड़ा योगदान रहा इसका स्थूल दृष्टि से

अनुमान न लग सकेगा, किंतु सूक्ष्मदर्शी तथ्यान्वेषी उन रहस्यों पर पूरी तरह विश्वास करते हैं।

जितना बड़ा कार्य उतना बड़ा उपचार के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, इस बार विशिष्ट तपश्चर्या वातावरण के प्रवाह को बदलने सुधारने के लिए की गई है। इसलिए उसका स्तर और स्वरूप कठिन है। आरंभिक दिनों में जो काम कंधे पर आया था वह भी लोकमानसों को परिष्कृत करने जागृत आत्माओं को एक संगठन सूत्र में पिरोने और रचनात्मक गतिविधियों का उत्साह उभारने का था। इतने भर से काम चल जाया करे तो इसकी व्यवस्था संपन्न लोग अपनी जेब से अथवा दूसरों से माँग–जाँचकर आसानी से पूर्ण कर लिया करते और अब तक स्थिति को बदलकर कुछ से कुछ बना लिया गया होता। कईयों ने पूरे जोर–शोर से यह प्रयत्न किए भी हैं। प्रचारात्मक साधनों के अंबार भी जुटाए हैं, पर उनके बलबूते कुछ ऐसा न बन पड़ा जिसका कारगर प्रभाव हो सके। वस्तुस्थिति को समझने वाले निर्देशक ने सर्वप्रथम एक ही काम सौंपा। चौबीस साल की गायत्री महापुरश्चरण साधना शृंखला का पिछले तीस वर्षों में जो कुछ बन पड़ा उसमें श्रेय है। कमाई की वह हुंडी ही अब तक काम देती रही। अपना, व्यक्ति विशेष का, समाज का, संस्कृति का यदि कुछ भला अपने द्वारा बन पड़ा, तो इस चौबीस वर्ष के संचित भंडार को खर्च किए जाने की बात ही समझी जा सकती है। उस समय भी मात्र जप संख्या ही पूरी नहीं की गई थी, वरन् साथ ही कितने ही अनुबंध–अनुशासन एवं व्रत पालन भी जुड़े हुए थे।

जप संख्या तो ज्यों–त्यों करके कोई भी खाली समय वाला पूरी कर सकता है, पर विलासी एवं अस्त–व्यस्त जीवनचर्या अपनाने वाला कोई व्यक्ति उतनी भर चिह्न पूजा से कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। साथ में तपश्चर्या के कठोर विधान भी जुड़े रहने चाहिए जो स्थूल शरीर, सूक्ष्म और कारण तीनों ही शरीरों को तपाते और हर दृष्टि से समर्थ बनाते हैं। संचित कषाय–कल्मष भी आत्मिक प्रगति के मार्ग में बहुत बड़े व्यवधान होते हैं। उनका निवारण एवं निराकरण भी इसी भट्टी में प्रवेश

करने से बन पड़ता है। जमीन में से निकलते समय लोहा मिट्टी मिला कच्चा होता है। अन्य धातुएँ भी ऐसी ही अनगढ़ स्थिति में होती हैं। उन्हें भट्टी में डालकर तपाया और प्रयोग के उपयुक्त बनाया जाता है। रस शास्त्री बहुमूल्य रस भस्में बनाने के लिए कई–कई अग्नि संस्कार करते हैं। कुम्हार के पास बर्तन पकाने के लिए उन्हें आंवे में तपाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। मनुष्यों पर भी यही नियम लागू होते हैं। ऋषि मुनियों की सेवा साधना, धर्म–धारणा तो प्रकट है ही साथ वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक शक्ति अर्जित करने के लिए तपश्चर्या भी समय–समय पर अपनाते रहते थे। यह प्रक्रिया अपने–अपने ढंग से हर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को संपन्न करनी पड़ी है, करनी पड़ेगी। क्योंकि ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का उन्नयन, परिपोषण इसके बिना हो नहीं सकता। व्यक्तित्त्व में पवित्रता, प्रखरता और परिपक्वता न हो तो कहने योग्य–सराहने योग्य सफलताएँ प्राप्त कर सकने का सुयोग ही नहीं बनता। कुचक्र, छद्म और आतंक के बलबूते उपार्जित की गई सफलताएँ जादू तमाशे में हथेली पर सरसों जमाने जैसे चमत्कार दिखाकर तिरोहित हो जाती हैं। बिना जड़ का पेड़ कब तक टिकेगा और किस प्रकार फूलेगा–फलेगा।

तपश्चर्या के मौलिक सिद्धांत हैं–संयम और सदुपयोग। इंद्रिय संयम से, पेट ठीक रहने से स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता। ब्रह्मचर्य पालन से मनोबल का भंडार चुकने नहीं पाता। अर्थ संयम से, नीति की कमाई से औसत भारतीय स्तर का निर्वाह करना पड़ता है, फलत: न दरिद्रता फटकती है और न बेईमानी की आवश्यकता पड़ती हैं। समय संयम से व्यस्त दिनचर्या बनाकर चलना पड़ता है। फलत: कुकर्मों के लिए समय ही नहीं बचता है। जो बन पड़ता है, श्रेष्ठ और सार्थक ही होता है। विचार संयम से एकात्मता सधती है। आस्तिकता, आध्यात्मिक और धार्मिकता का दृष्टिकोण विकसित होता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग की साधना सहज सधती रहती है। संयम का अर्थ है–बचत। चारों प्रकार का संयम बरतने पर मनुष्य के पास इतनी अधिक सामर्थ्य बच रहती है, जिसे परिवार निर्वाह के

अतिरिक्त महान प्रयोजनों में प्रचुर मात्रा में भली प्रकार लगाया जाता रहे। संयमशीलों को वासना तृष्णा और अहंता की खाई पाटने में मरना खपना नहीं पड़ता, इसलिए सद्दुश्यों की दिशा में कदम बढ़ाने की आवश्यकता पड़ने पर व्यस्तता, अभावग्रस्तता, चिंता, समस्या आदि के बहाने नहीं गढ़ने पड़ते। स्वार्थ–परमार्थ साथ–साथ सधते रहते हैं और हँसती–हँसाती, हलकी–फुलकी जिंदगी जीने का अवसर मिल जाता है। इसी मार्ग पर अब से ६० वर्ष पूर्व मार्गदर्शक ने चलना सिखाया था। वह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा। जब तब वातावरण में बैटरी जार्च करने के लिए बुलाया जाता रहा। विगत तीस वर्षों में एक–एक वर्ष के लिए एकांतवास और विशेष साधना उपक्रम के लिए जाना पड़ा है। इसका उद्देश्य एक ही था। तपश्चर्या के उत्साह और पुरुषार्थ में, श्रद्धा और विश्वास में कहीं कोई कमी न पड़ने पाए। जहाँ कमी पड़ रही हो उसकी भरपाई होती रहे। भागीरथ शिला–गंगोत्री में की गई साधना धरती पर ज्ञान गंगा की प्रज्ञा अभियान की, अवतरण की क्षमता एवं दिशा मिली। इस बार उत्तरकाशी के परशुराम आश्रम में वह कुल्हाड़ा उपलब्ध हुआ जिसके सहारे व्यापक अवाँछनीयता के प्रति लोकमानस में विक्षोभ उत्पन्न किया जा सके। पौराणिक परशुराम ने धरती पर से अनेक आततायियों के अनेक बार सिर काटे थे। अपना सिर काटना "ब्रेन वाशिंग" है। विचार क्रांति एवं प्रज्ञा–अभियान में सृजनात्मक ही नहीं सुधारात्मक प्रयोजन भी सम्मिलित हैं। यह दोनों ही उद्देश्य जिस प्रकार जितने व्यापक क्षेत्र में जितनी सफलता के साथ संपन्न होते रहे हैं, उनमें न शक्ति कौशल है न साधनों का चमत्कार, न परिस्थितियों का संयोग यह मात्र तपश्चर्या की सामर्थ्य से ही संपन्न हो सका।

यह जीवनचर्या के अद्यावधि भूतकाल का विवरण हुआ। वर्तमान में इसी दिशा में एक बड़ी छलांग लगाने के लिए उस शक्ति ने निर्देश किया है, जिस सूत्रधार के इशारों पर कठपुतली की तरह नाच–नाचते हुए समूचा जीवन गुजर गया। अब हमें तपश्चर्या की एक नवीन उच्चस्तरीय कक्षा में प्रवेश करना पड़ा है। सर्वसाधारण को इतना ही पता है कि हम एकांतवास में हैं

किसी से मिल जुल नहीं रहे हैं। यह जानकारी सर्वथा अधूरी है। क्योंकि जिस व्यक्ति के रोम-रोम में कर्मठता, पुरुषार्थ परायणता, नियमितता और व्यवस्था भरी पड़ी हो वह इस प्रकार का निरर्थक और निष्क्रिय जीवन जी नहीं सकता जैसा कि समझा जा रहा है। एकांत वास में हमें पहले की अपेक्षा अधिक श्रम करना पड़ा है। अधिक व्यस्त रहना पड़ा है तथा लोगों से न मिलने की विधा अपनाने पर भी इतने ऐसों से संपर्क सूत्र जोड़ना पड़ा है जिनके साथ बैठने में ढेरों समय चला जाता है, पर मन नहीं भरता। फिर एकांत कहाँ हुआ? न मिलने की बात कहाँ बन पड़ी ? मात्र कार्यशैली में ही राई रत्ती परिवर्तन हुआ। मिलने-जुलने वालों का वर्ग एवं विषय भर बदला। ऐसी दशा में अकर्मण्य और पलायनवाद का दोष ऊपर कहाँ लदा? तपस्वी सदा ऐसी ही रीति-नीति अपनाते हैं। वे निष्क्रिय दीखते भर हैं, वस्तुतः अत्यधिक व्यस्त रहते हैं। लट्टू जब पूरे वेग से घूमता है, तब स्थिर खड़ा भर दीखता है। उसके घूमने का पता तो तब लगता है, जब चाल धीमी पड़ती है और बैलेंस लड़खड़ाने पर औंधा गिरने लगता है।

आइन्सटीन जिन दिनों अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अणु अनुसंधान में लगे थे, उन दिनों उनकी जीवनचर्या में विशेष प्रकार का परिवर्तन किया गया था। वे भव्य भवन में एकाकी रहते थे। सभी सुविधाएँ उसमें उपलब्ध थीं, साहित्य, प्रयोग उपकरण एवं सेवक सहायक भी। वे सभी दूर रखे जाते थे ताकि एकांत में एकाग्रतापूर्वक बन पड़ने वाले चिंतन में कोई व्यवधान उत्पन्न न हो। वे जब तक चाहते नितांत एकांत में सर्वथा एकाकी रहते। कोई उनके कार्य में तनिक भी विक्षेप नहीं कर सकता है। जब वे चाहते घंटी बजाकर नौकर बुलाते और इच्छित वस्तु या व्यक्ति प्राप्त कर लेते। मिलने वाले मात्र कार्ड जमा कर जाते और जब कभी उन्हें बुलाया जाता तब जबकि की महीनों प्रतीक्षा करते। घनिष्ठता बताकर कोई भी उनके कार्य में विक्षेप नहीं कर सकता था। इतना प्रबंध बन पड़ने पर ही उनके लिए यह संभव हुआ कि संसार को आश्चर्य चकित कर सके। यदि यार वासों से घिरे रहते उथले कार्यों में रस लेकर समय गुज़ारते

तो अन्यान्यों की तरह वे भी बहुमूल्य जीवन का कोई कहने लायक लाभ न उठा पाते। प्राचीनकाल में ऋषि–तपस्वियों की जीवनचर्या ठीक इसी प्रकार की थी। उसमें तन्यमतापूर्वक अपना कार्य कर सकने के लिए वे कोलाहल रहित स्थान निर्धारित करते थे और पूरी तरह तन्यमता के साथ निर्धारित प्रयोजनों में लगे रहते थे।

अपने सामने भी प्रायः इसी स्तर के नए कार्य करने लिए रख दिए गए। वे बहुत वजनदार हैं, साथ ही बहुत महत्त्वपूर्ण भी। इनमें से एक है–विश्वव्यापी सर्वनाशी विभीषिकाओं को निरस्त कर सकने योग्य आत्मशक्ति उत्पन्न करना। दूसरा है–सृजन शिल्पियों को जिस प्रेरणा और क्षमता के बिना कुछ करते–धरते नहीं बन पड़ रहा है, उसकी पूर्ति करना। तीसरा है नवयुग के लिए जिन सत्प्रवृत्तियों का सूत्र–संचालन होना है, उनका ताना बुनना और ढाँचा खड़ा करना। यह तीनों ही कार्य ऐसे हैं, जो अकेले स्थूल शरीर से नहीं बन सकते। उसकी सीमा और सामर्थ्य अति न्यून है। इंद्रिय सामर्थ्य थोड़े दायरे में काम कर सकती है और सीमित वजन उठा सकती है, हाड़–माँस के पिंड में बोलने, सोचने, चलने–फिरने, करने–कमाने, पचाने की बहुत थोड़ी सामर्थ्य है। उतने भर से सीमित काम हो सकता है। सीमित कार्य से शरीर यात्रा चल सकती है और समीपवर्ती संबद्ध लोगों का यत्किंचित भला हो सकता है। अधिक व्यापक और अधिक बड़े कामों के लिए सूक्ष्म और कारण शरीरों के विकसित किए जाने की आवश्यकता पड़ती है। तीनों जब समान रूप से सामर्थ्यवान और गतिशील होते हैं तब कहीं इतने बड़े काम बन सकते हैं, जिनके करने की इन दिनों आवश्यकता पड़ गई है।

रामकृष्ण परमहंस के सामने यही स्थिति आई थी। उन्हें व्यापक काम करने के लिए बुलाया गया। योजना के अनुसार उनने अपनी क्षमता विवेकानंद को सौंप दी थी तथा उनने कार्यक्षेत्र को सरल और सफल बनाने के लिए आवश्यक ताना–बाना बुन देने का कार्य संभाला। इतना बड़ा काम वे मात्र स्थूल शरीर के सहारे नहीं कर पा रहे थे। सो उनने उसे निःसंकोच

छोड़ भी दिया। बैलेंस से अधिक वरदान देने के कारण उन पर ऋण भी चढ़ गया था। उनकी पूर्ति के बिना गाड़ी रुकती। इसलिए स्वेच्छापूर्वक कैंसर का रोग भी ओढ़ लिया। इस प्रकार ऋण मुक्त होकर विवेकानंद के माध्यम से उस कार्य में जुट गए जिसे करने के लिए उनकी निर्देशक सत्ता ने उन्हें संकेत किया था। प्रत्यक्षतः रामकृष्ण तिरोहित हो गए। उनका अभाव खटका, शोक भी बना, पर हुआ वह जो श्रेयस्कर था। दिवंगत होने के उपरांत उनकी सामर्थ्य हजार गुनी अधिक बढ़ गई। इसके सहारे उनने देश एवं विश्व में अनेकानेक सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन किया। जीवन काल में वे भक्तजनों को थोड़ा बहुत आशीर्वाद देते रहे और एक विवेकानंद को अपना संग्रह सौंपने में समर्थ हुए, पर जब उन्हें सूक्ष्म और कारण शरीर से काम करने का अवसर मिल गया, तो उनसे पूरे विश्व में इतना काम किया जा सका जिसका लेखा–जोखा ले सकना सामान्य स्तर की जाँच–पड़ताल से समझ सकना संभव नहीं।

ईसा की जीवनचर्या भी ऐसी ही थी। वे जीवन भर में बहुत दौड़–धूप के उपरांत मात्र १३ शिष्य बना सके। देखा कि स्थूल शरीर की क्षमता से उतना बड़ा काम न हो सकेगा, जितना कि वे चाहते हैं, ऐसी दशा में यही उपयुक्त समझा कि सूक्ष्म शरीर का अवलंबन ले कर संसार भर में ईसाई मिशन फैला दिया जाए। ऐसे परिवर्तनों के समय महापुरुष पिछला हिसाब–किताब साफ करने के लिए कष्ट साध्य मृत्यु का वरण करते हैं। ईसा का क्रूस पर चढ़ना, सुकरात का विष पीना, कृष्ण को तीर लगना, पांडवों का हिमालय में गलना, गाँधी का गोली खाना, आद्य शंकराचार्य को भगंदर होना यह बताता है कि अगले महान प्रयोजनों के लिए उन्हें स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करना होता है, वे उपलब्ध शरीर का इस प्रकार अंत करते हैं, जिसे बलिदान स्तर का प्रेरणा प्रदान करने वाला और अपने चलते समय का पवित्रता, प्रखरता प्रदान करने वाला कहा जा सके। हमारे साथ भी यही हुआ है व आगे होना है।

स्थूल का सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन

सूक्ष्मीकरण

युग परितर्वन की यह एक ऐतिहासिक वेला है। इन बीस वर्षों में हमें जमकर काम करने की ड्यूटी सौंपी गई थी। सन् १९८० से लेकर अब तक के पाँच वर्षों में जो काम हुआ है, पिछले तीस वर्षों की तुलना में कहीं अधिक है। समय की आवश्यकता के अनुरूप तत्परता बरती गई और खपत को ध्यान में रखते हुए तदनुरूप शक्ति अर्जित की गई। यह वर्ष कितनी जागरूकता, तन्मयता, एकाग्रता और पुरुषार्थ की चरम सीमा तक पहुँच कर व्यतीत करने पड़े हैं, उनका उल्लेख उचित न होगा। क्योंकि इस तत्परता का प्रतिफल २४०० प्रज्ञा पीठों और १५००० प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। एक कड़ी हर दिन एक फोल्डर लिखने की इसमें और जोड़ी जा सकती है, शेष सब कुछ परोक्ष है। परोक्ष का प्रत्यक्ष लेखा–जोखा किस प्रकार संभव हो?

युग संधि की वेला में अभी में अभी पंद्रह वर्ष और रह जाते है। इस अवधि में गतिचक्र और भी तेजी से भ्रमण करेगा। एक ओर उसकी गति बढ़ानी होगी, दूसरी ओर रोकनी। विनाश को रोकने और विकास को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ेगी। दोनों ही गतियाँ इन दिनों मंथर हैं। इस हिसाब से सन् २००० तक उस लक्ष्य की उपलब्धि न हो सकेगी जो अभीष्ट है। इसलिए सृष्टि के प्रयास चक्र निश्चित रूप से तीव्र होंगे। उसमें हमारी भी गीध–गिलहरी जैसी भूमिका है। काम कौन, कब–कब, किस प्रकार करें, यह बात आगे की है। प्रश्न जिम्मेदारी का है। युद्ध काल में जो जिम्मेदारी सेनापति की होती है, वही

खाना पकाने वाले की भी है। आपत्तिकाल में उपेक्षा कोई नहीं बरत सकता।

इस अवधि में एक साथ कई मोर्चों पर एक साथ लड़ाई लड़नी होगी। समय ऐसे भी आते हैं, जब खेत की फसल काटना, जानवरों को चारा लाना, बीमार लड़के का इलाज कराना, मुकदमें की तारीख पर हाजिर होना, घर आए मेहमान का स्वागत करना जैसे कई काम एक ही आदमी को एक ही समय पर करने होते हैं। युद्ध काल में तो बहुमुखी चिंतन और उत्तरदायित्व और भी अधिक सघन तथा विरल हो जाता है। किस मोर्चे पर कितने सैनिक भेजना हैं, जो लड़ रहे हैं, उनके लिए गोला–बारूद कम न पड़ने देना, रसद का प्रबंध रखना, अस्पताल का दुरस्त होना, मरे हुए सैनिकों को ठिकाने लगाना, अगले मोर्चे के लिए खाइयाँ खोदना जैसे काम बहुमुखी होते हैं। सभी पर समान ध्यान देना होता है। एक में भी चूक होने पर बात बिगड़ जाती है। करा–धरा चौपट हो जाता है।

हमें अपनी प्रवृत्तियाँ बहुमुखी बढ़ा लेने के लिए कहा गया है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई स्थूल शरीर का सीमा बंधन है। यह सीमित है, सीमित क्षेत्र में ही काम कर सकता है। सीमित ही वजन उठा सकता है। काम असीम क्षेत्र से संबंधित है और ऐसे में जिनमें एक साथ कितनों से ही वास्ता पड़ना चाहिए। यह कैसे बने? इसके लिए एक तरीका यह है कि स्थूल शरीर को बिल्कुल ही छोड़ दिया जाए और जो करना है, उसे पूरी तरह एक या अनेक सूक्ष्म शरीरों से संपन्न करते रहा जाए। निर्देशक को यदि यही उचित लगेगा, तो उसे निपटाने में पल भर की भी देर नहीं लगेगी। स्थूल शरीरों का एक झंझट है कि उनके साथ कर्मफल के भोग विधान जुड़ जाते हैं। यदि लेन–देन बाकी रहे तो अगले जन्म तक वह भार लदा चला जाता है और फिर खींचतान करता है। ऐसी दशा में उसके भोग भुगतते हुए जाने में निश्चिंतता रहती है।

रामकृष्ण परमहंस ने आशीर्वाद वरदान बहुत दिए थे। उपार्जित पुण्य भंडार कम था। हिसाब चुकाने के लिए गले का कैंसर बुलाया गया। बेबाकी तब हुई। आद्य शंकराचार्य की भी

भगंदर का फोड़ा ही जान लेकर गया था। महात्मा नारायण स्वामी को भी ऐसा ही रोग सहना पड़ा। गुरु गोलवल्कर कैंसर से पीड़ित होकर स्वर्गवासी हुए। ऐसे ही अन्य उदाहरण हैं जिनमें पुण्यात्माओं को अंतिम समय व्यथा पूर्वक बिताना पड़ा। इसमें उनके पापों का दंड कारण नहीं होता, वह पुण्य व्यतिरेक की भरपाई करना होता है, वे कइयों का कष्ट अपने ऊपर लेते रहते हैं। बीच से चुका सके तो ठीक अन्यथा अंतिम समय हिसाब-किताब बराबर करते हैं, ताकि आगे के लिए कोई झंझट शेष न रहे और जीवन मुक्त स्थिति बने रहने में पीछे का कोई कर्मफल व्यवधान न करे।

मूल प्रश्न जीव सत्ता के सूक्ष्मीकरण का है। सूक्ष्म व्यापक होता है। बहुमुखी भी। एक ही समय में कई जगह काम कर सकता है। कई उत्तरदायित्त्व एक साथ ओढ़ सकता है। जबकि स्थूल के लिए एक स्थान, एक सीमा के बंधन हैं। स्थूल शरीरधारी अपने भाग दौड़ के क्षेत्र में ही काम करेगा। साथ ही भाषा ज्ञान के अनुरूप विचारों का आदान-प्रदान कर सकेगा। किंतु सूक्ष्म में प्रवेश करने पर भाषा संबंधी झंझट दूर हो जाते हैं। विचारों का आदान-प्रदान चल पड़ता है। विचार सीधे मस्तिष्क या अंतराल तक पहुँचाए जा सकते हैं। उनके लिए भाषा माध्यम आवश्यक नहीं। व्यापकता की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ी सुविधा है यातायात की व्यवस्था भी स्थूल शरीरधारी को चाहिए। पैरों के सहारे तो यह एक घंटे में प्रायः तीन मील ही चल पाता है। वाहन जिस गति का होगा, उसकी दौड़ भी उतनी ही रह जाएगी। एक व्यक्ति की एक जीभ होती है। उसका उच्चारण उसी से होगा, किंतु सूक्ष्म शरीर की इंद्रियों पर इस प्रकार का बंधन नहीं है। उनकी देखने की, सुनने की, बोलने की सामर्थ्य स्थूल शरीर की तुलना में अनेक गुनी हो जाती है। एक शरीर समयानुसार अनेक शरीर में भी प्रतिभाषित हो सकता है, रास के समय श्रीकृष्ण के अनेकशरीर गोपियों का अपने साथ सहनृत्य करते दीखते थे। कंस वध के समय तथा सिया स्वयंबर के समय उपस्थित समुदाय को राम और कृष्ण की विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ दृष्टिगोचर हुईं थीं। विराट

रूप के दर्शन में भगवान् ने अर्जुन को, यशोदा को जो दर्शन कराया था, वह उनके सूक्ष्म एवं कारण शरीर का ही आभास था। अलंकार काव्य के रूप में उसकी व्याख्या की जाती है, सो भी किसी सीमा तक ठीक ही है।

यह स्थिति शरीर त्यागते ही हर किसी को उपलब्ध हो जाए, यह संभव नहीं। भूत–प्रेत चले तो सूक्ष्म शरीर में जाते हैं, पर वे बहुत ही अनगढ़ स्थिति में रहते हैं। मात्र संबंधित लोगों को ही अपनी आवश्यकताएँ बताने भर के कुछ दृश्य कठिनाई से दिखा सकते हैं। पितर स्तर की आत्माएँ उससे कहीं अधिक सक्षम होती हैं। उनका विवेक एवं व्यवहार कहीं अधिक उदात्त होता है। इसके लिए उनका सूक्ष्म शरीर पहले से ही परिष्कृत हो चुका होता है। सूक्ष्म शरीर को उच्चस्तरीय क्षमता–संपन्न बनाने के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। वे तपस्वी स्तर के होते हैं। सामान्य काया को सिद्ध पुरुष अपनी काया की सीमा में रहकर जो दिव्य क्षमता अर्जित कर सकते हैं, कर लेते हैं, उसी से दूसरों की सेवा सहायता करते हैं, किंतु शरीर विकसित कर लेने वाले उन सिद्धियों के भी धनी देखे गए हैं जिन्हें योगशास्त्र में अणिमा, महिमा, लघिमा आदि कहा गया है। शरीर का हलका, भारी, दृश्य, अदृश्य हो जाना, यहाँ से वहाँ जा पहुँचना, प्रत्यक्ष शरीर के रहते हुए संभव नहीं क्योंकि शरीरगत परमाणुओं की संरचना ऐसी नहीं है जो पदार्थ विज्ञान की सीमा मर्यादा से बाहर जा सके। कोई मनुष्य हवा में नहीं उड़ सकता और न पानी पर चल सकता है। यदि ऐसा कर सका होता तो उसने वैज्ञानिकों की चुनौती अवश्य स्वीकार की होती और प्रयोगशाला जाकर विज्ञान के प्रतिपादनों में एक नया अध्याय अवश्य ही जोड़ता। किंबदंतियों के आधार पर कोई किसी से इस स्तर की सिद्धियों का बखान करने भी लगे, तो उसे अत्युक्ति ही माना जाएगा। अब प्रत्यक्ष को प्रामाणिक किए बिना किसी की गति नहीं।

प्रश्न सूक्ष्मीकरण साधना का है, जो हम इन दिनों कर रहे हैं। यह एक विशेष साधना है, जो स्थूल शरीर के रहते हुए भी की जा सकती है और उसे त्यागने के उपरांत भी

करनी पड़ती है। दोनों ही परिस्थितियों में यह स्थिति बिना अतिरिक्त प्रयोग–पुरुषार्थ के, तप–साधना के संभव नहीं हो सकती। इसे योगाभ्यास तपश्चर्या का अगला चरण कहना चाहिए।

इसके लिए किसे क्या करना होता है, यह इसके वर्तमान स्तर एवं उच्चस्तरीय मार्गदर्शन पर निर्भर होता है। सबके लिए एक पाठ्यक्रम नहीं हो सकता। किंतु इतना अवश्य है कि अपनी शक्तियों का बहिरंग अपव्यय रोकना पड़ता है, अंडा जब तक पक नहीं जाता तब तक एक खोखले में बंद रहता है इसके बाद वह इस छिलके को तोड़कर चलने–फिरने और दौड़ने–उड़ने लगता है। लगभग यही अभ्यास सूक्ष्मीकरण के हैं, जो हमने पिछले दिनों किए हैं। प्राचीनकाल में गुफा सेवन, समाधि आदि का प्रयोग प्रायः इसी निमित्त होता था।

सूक्ष्म शरीर धारियों का वर्णन और विवरण पुरातन ग्रंथों में विस्तार पूर्वक मिलता है। यक्ष और युधिष्ठर के मध्य विग्रह तथा विवाद का महाभारत में विस्तार पूर्वक वर्णन है। यक्ष, गंधर्व, ब्रह्मराक्षस जैसे कई वर्ग सूक्ष्म शरीर धारियों के थे। विक्रमादित्य के साथ पाँच "वीर" रहते थे। शिवजी के गण "वीरभद्र" कहलाते थे। भूत–प्रेत, जिंद, मसानों की अलग ही बिरादरी थी। "अल्लादीन का चिराग" जिनने पढ़ा है उन्हें इस समुदाय की गतिविधियों की जानकारी होगी। छाया पुरुष द्वारा साधना में अपने निज के शरीर से ही एक अतिरिक्त सत्ता गढ़ ली जाती है और वह एक समर्थ साथी सहयोगी जैसा काम करती है।

इन सूक्ष्म शरीर धारियों में अधिकांश का उल्लेख हानिकारक या नैतिक दृष्टि से हेय स्तर पर हुआ है। संभव है उन दिनों अतृप्त विक्षुब्ध स्तर के योद्धा रणभूमि में मरने के उपरांत ऐसे ही कुछ हो जाते रहे हों। उन दिनों युद्धों की मार–काट ही सर्वत्र संव्याप्त थी, साथ ही सूक्ष्म शरीरधारी देवर्षियों का भी कम उल्लेख नहीं है। राजर्षि और ब्रह्मर्षि तो स्थूल शरीरधारी ही होते थे, पर जिनकी गति सूक्ष्म शरीर में भी काम करती थी, वे देवर्षि कहलाते थे। वे वायुभूत होकर विचरण

करते थे। लोक–लोकांतरों में जा सकते थे। जहाँ आवश्यकता अनुभव करते थे, वहाँ भक्तजनों का मार्गदर्शन करने के लिए अनायास ही जा पहुँचते थे।

ऋषियों में से अन्य कईयों के भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं। वे समय–समय पर धैर्य देने, मार्गदर्शन करने या जहाँ आवश्यकता समझी है, वहाँ पहुँचे, प्रकट हुए हैं। पैरों से चलकर जाना नहीं पड़ा है। अभी भी हिमालय के कई यात्री ऐसा विवरण सुनाते हैं कि वह राह भटक जाने पर कोई उन्हें उपयुक्त स्थल तक छोड़कर चला गया। कईयों ने किन्हीं गुफाओं में, शिखरों पर अदृश्य योगियों को दृश्य तथा दृश्य को अदृश्य होते देखा है। तिब्बत के लामाओं की ऐसी कितनी ही कथा गाथाएँ सुनी गई हैं। थियोसोफिकल सोसायटी की मान्यता है कि अभी हिमालय के ध्रुव केंद्र पर एक ऐसी मंडली है, जो विश्व शांति में योगदान करती है, इसे उन्होंने "अदृश्य सहायक" नाम दिया है।

यहाँ स्मरण रखने योग्य बात यह है कि यह देवर्षि समुदाय भी मनुष्यों का ही एक विकसित वर्ग है। योगियों, सिद्ध पुरुषों और महामानवों की तरह वह सेवा–सहायता में दूसरों की अपेक्षा अधिक समर्थ पाया जाता है, पर यह मान बैठना गलती होगी कि वे सर्व समर्थ है और किसी की भी मनोकामना को तत्काल पूरी कर सकते हैं, या अमोघ वरदान दे सकते हैं। कर्मफल की वरिष्ठता सर्वोपरि है, उसे भगवान् ही घटा या मिटा सकते हैं। मनुष्य की सामर्थ्य से वह बाहर है। जिस प्रकार बीमार की चिकित्सक, विपत्तिग्रस्त की धनी सहायता कर सकता है, ठीक उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरधारी देवर्षि भी समय–समय पर सत्कर्मों के निमित्त बुलाने पर अथवा बिना बुलाए भी सहायता के लिए दौड़ते हैं। इससे बहुत लाभ भी मिलता है। इतने पर भी किसी को यह नहीं मान बैठना चाहिए कि पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रही, या उनके आड़े आते ही निश्चित सफलता मिल गई। ऐसा रहा होता तो लोग उन्हीं का आसरा लेकर निश्चिंत हो जाते और फिर निजी पुरुषार्थ की आवश्यकता न समझते। निजी कर्मफल आड़े आने परिस्थितियों के बाधक होने की बात

को ध्यान में ही न रखते।

यहाँ एक अच्छा उदाहरण हमारे हिमालयवासी गुरुदेव का है। सूक्ष्म शरीरधारी होने के कारण ही वे उस प्रकार के वातावरण में रह पाते हैं, जहाँ जीवन निर्वाह के कोई साधन नहीं हैं। समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन और सहायता करते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें कुछ करना नहीं पड़ा, कोई कठिनाई मार्ग में आई ही नहीं, कभी असफलता मिली ही नहीं। यह भी होता रहा है, पर निश्चित है कि हम एकाकी जो कर सकते थे, उसकी अपेक्षा उस दिव्य सहयोग से मनोबल बहुत बढ़ा-चढ़ा रहा है। उचित मार्गदर्शन मिला है। कठिनाई के दिनों में धैर्य और साहस यथावत स्थिर रहा है। यह कम नहीं है। इतनी ही आशा दूसरों से करनी भी चाहिए। सब काम करके कोई रख जाएगा ऐसी आशा भगवान् से भी नहीं करनी चाहिए। भूल यही होती रही कि दैवी सहायता का नाम लेते ही लोग समझते हैं कि वह जादू की छड़ी घुमाई और मनचाहा काम बन गया। ऐसे ही अतिवादी लोग क्षण भर में आस्था खो बैठते देखे गए हैं। दैवी शक्तियों से सूक्ष्म शरीरों से हमें सामयिक सहायता की आशा करनी चाहिए। साथ ही अपनी जिम्मेदारियाँ वहन करने के लिए कटिबद्ध भी रहना चाहिए। असफलताओं तथा कठिनाइयों को अच्छा शिक्षक मानकर अगले कदम अधिक सावधानी, अधिक बहादुरी के उठाने की तैयारी करनी चाहिए।

सूक्ष्म शरीरों की शक्ति सामान्यतः भी अधिक होती है। दूरदर्शन, दूरश्रवण, पूर्वाभास, विचार-संप्रेषण आदि में प्रायः सूक्ष्म शरीर की ही भूमिका रहती है। उनकी सहायता से कितनों को ही विपत्तियों से उबरने का अवसर मिला है। कईयों को ऐसी सहायताएँ मिली हैं, जिनके बिना उनका कार्य रुका ही पड़ा रहता। दो सच्चे मित्र मिलने से लोगों की हिम्मत कई गुना बढ़ जाती है। वैसा ही अनुभव अदृश्य सहायकों के साथ संबंध जुड़ने से भी करना चाहिए।

जिस प्रकार अपना दृश्य संसार है और उसमें दृश्य शरीर वाले जीवधारी रहते हैं, ठीक उसी प्रकार उससे जुड़ा हुआ एक अदृश्य लोक भी है। उसमें सूक्ष्म शरीरधारी निवास

करते हैं। इनमें कुछ बिल्कुल साधारण, कुछ दुरात्मा और कुछ अत्यंत उच्चस्तर के होते हैं। वे मनुष्य लोक में समुचित दिलचस्पी लेते हैं। बिगड़ों को सुधारना और सुधरों को अधिक सफल बनाने में आयाचित सहायता माँगने का प्रयोजन, और माँगने वाले का स्तर, उपयुक्त होने पर तो वह सहायता और भी अच्छी तरह और भी बड़ी मात्रा में मिलती है।

यह सूक्ष्म शरीरों की, सूक्ष्म लोक की सामान्य चर्चा हुई। प्रसंग अपने आपे को विकसित करने का है। यह विषम वेला है। इसमें प्रत्यक्ष शरीर वाले, प्रत्यक्ष उपाय–उपचारों से जो कर सकते हैं, सो कर ही रहे हैं। करना भी चाहिए, पर दीखता है कि उतने भर से काम चलेगा नहीं। सशक्त सूक्ष्म शरीरों को बिगड़ों को अधिक न बिगड़ने देने के लिए अपना जोर लगाना पड़ेगा। सँभालने के लिए जो प्रक्रिया चल रही है, वह पर्याप्त न होगी। उसे और भी अधिक सरल–सफल बनाने के लिए अदृश्य सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। यह सामूहिक समस्याओं के लिए भी आवश्यक होगा और व्यक्तिगत रूप से सत्प्रयोजनों में संलग्न व्यक्तित्त्वों को अग्रगामी–यशस्वी बनाने की दृष्टि से भी।

जब हमें यह काम सौंपा गया तो उसे करने में आना–कानी कैसी? दिव्य सत्ता के संकेतों पर चिरकाल से चलते चले आ रहे और जब तक आत्मबोध जागृत रहेगा तब तक यही स्थिति बनी रहेगी। यही गतिविधि चलेगी। यह विषम बेला है, इन दिनों दृश्य और अदृश्य क्षेत्र में जो विषाक्तता भरी हुई है, उसके परिशोधन का प्रयास करना अविलंब आवश्यक हो गया है, तो संजीवनी बूटी लाने के लिए पर्वत उखाड़ लाने और सुषैण वैद्य की खोज में जाने के लिए जो करना पड़े करना चाहिए। यह कार्य स्थूल शरीर को प्रसुप्त से जाग्रत स्थिति में लाने के लिए हमें अविलंब जुटना पड़ा और विगत दो वर्षों में कठोर तपश्चर्या का–एकांत साधना का अवलंबन लेना पड़ा।

इन दिनों हम यह करने में जुट रहे हैं

हमारी जिज्ञासाओं एवं उत्सुकताओं का समाधान गुरुदेव प्रायः हमारे अंतराल में बैठकर ही किया करते हैं। उनकी आत्मा हमें अपने समीप ही दृष्टिगोचर होती रहती है। आर्षग्रंथों के अनुवाद से लेकर प्रज्ञा पुराण की संरचना तक जिस प्रकार लेखन प्रयोजन में उनका मार्गदर्शन अध्यापक और विद्यार्थी जैसा रहा है, हमारी वाणी भी उन्हीं की सिखावन को दुहराती रही है। घोड़ा जिस प्रकार सवार के संकेतों पर दिशा और चाल बदलता रहता है, वही प्रक्रिया हमारे साथ भी कार्यान्वित होती रही है।

बैटरी चार्ज करने के लिए जब हिमालय बुलाते हैं, तब भी वे कुछ विशेष कहते नहीं। सेनीटोरियम में जिस प्रकार किसी दुर्बल का स्वास्थ्य सुधर जाता है, वही उपलब्धियाँ हमें हिमालय जाने पर हस्तगत होती हैं। वार्तालाप का प्रयोग अनेक प्रसंगों में होता रहता है।

इस बार सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया और साधना विधि तो ठीक तरह समझ में आ गई और जिस प्रकार कुंती ने अपने शरीर में से देव संताने जन्मीं थीं, ठीक उसी प्रकार अपनी काया में विद्यमान पाँच कोशों, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोषों को पाँच वीरभद्रों के रूप में विकसित करना पड़ेगी, इसकी साधना विधि भी समझ में आ गई। जब तक वे पाँचों पूर्ण समर्थ न हो जाएँ तब तक वर्तमान स्थूल शरीर को उनके घोंसले की तरह बनाए रहने का भी आदेश है और अपनी दृश्य स्थूल जिम्मेदारियाँ दूसरों को हस्तांतरित करने की दृष्टि से अभी शांतिकुंज ही रहने का निर्देश है।

यह सब स्पष्ट हो गया सावित्री साधना का विधान भी उनका निर्देश मिलते ही इस निमित्त आरंभ कर दिया।

अब प्रश्न यह रहा है कि पाँच वीरभद्रों को काम क्या सौंपना पड़ेगा और किस प्रकार वे क्या करेंगे। उसका उत्तर भी अधिक जिज्ञासा रहने के कारण अब मिल गया। इससे निश्चितता भी हुई और प्रसन्नता भी।

संसार में आज भी ऐसी कितनी ही प्रतिभाएँ हैं, जो दिशा पलट जाने पर अभी जो कर रही हैं, उसकी तुलना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य करने लगेंगी। उलटे को उलट कर सीधा करने के लिए जिस प्रचंड शक्ति की आवश्यकता होती है उसी को हमारे अंग–अंग वीरभद्र करने लगेंगे। प्रतिभाओं की सोचने की यदि दिशा बदली जा सके तो उनका परिवर्तन चमत्कारी जैसा हो सकता है।

नारद ने पार्वती, ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि, सावित्री आदि की जीवन दिशा बदली, तो वे जिन परिस्थितियों में रह रहे थे। उसे लात मारकर दूसरी दिशा में चल पड़े और संसार के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन गए। भगवान् बुद्ध ने आनंद, कुमार जीव, अंगुलिमाल, अंबपाली, अशोक, हर्षवर्धन, संघमित्रा आदि का मन बदल दिया तो वे जो कुछ कर रहे थे, उसके ठीक उलटा करने लगे और विश्व विख्यात हो गए। विश्वामित्र ने हरिश्चंद्र को एक मामूली राजा नहीं रहने दिया वरन् इतना वरेण्य बना दिया कि उनकी लीला अभिनय देखने मात्र से गाँधी जी विश्ववंद्य हो गए। महाकृपण भामाशाह को संत विठोबा ने अंतःप्रेरणा दी और उनका सारा धन महाराणा प्रताप के लिए उगलवा दिया। आद्य शंकराचार्य की प्रेरणा से मांधाता ने चारो धामों के मठ बना दिए। अहिल्या बाई को एक संत ने प्रेरणा देकर कितने ही मंदिरों घाटों का जीर्णोद्धार करा लिया और दुर्गम स्थानों पर नए देवालय बनाने के संकल्प को पूर्ण कर दिखाने के लिए सहमत कर लिया। समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को वह काम करने की अतःप्रेरणा दी जिसे वे अपनी इच्छा से कदाचित ही कर पाते। रामकृष्ण परमहंस ही थे, जिन्होंने नरेंद्र के पीछे पड़कर उसे विवेकानंद बना

दिया। राजा गोपीचंद का मन बैराग्य में लगा देने का श्रेय संत भृर्तहरि को था।

ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, जिसमें कितनी ही प्रतिभाओं को किन्हीं मनस्वी आत्म वेत्ताओं ने बदलकर कुछ से कुछ बना दिया। उनकी अनुकंपा न हुई होती तो वे जीवन भर अपने उसी पुराने ढर्रे पर लुढ़कते रहते जिस पर कि उनका परिवार चल रहा था।

हमारी अपनी बात भी ठीक ऐसी ही है। यदि गुरुदेव ने उलट न दिया होता तो हम अपने पारिवारिक जनों की तरह पौरोहित्य का धंधा कर रहे होते या किसी और काम में लगे होते। उस स्थान पर पहुँच ही न पाते, जिस पर कि हम अब पहुँच गए हैं।

इन दिनों युग परिवर्तन के लिए कई प्रकार की प्रतिभाएँ चाहिए। विद्धानों की आवश्यकता है, जो लोगों को अपने तर्क प्रमाणों की नई पद्धति प्रदान कर सकें। कलाकारों की आवश्यकता है, जो चैतन्य महाप्रभु, मीरा, सूर, कबीर की भावनाओं को इस प्रकार लहरा सकें, जैसे सँपेरा साँप को लहराता रहता है। धनवानों की जरूरत है, जो अपने पैसे को विलास में खर्च करने की अपेक्षा सम्राट अशोक की तरह अपना सर्वस्व समय की आवश्यकता पूरी करने के लिए लुटा सकें। राजनीतिज्ञों की जरूरत है जो गाँधी, रूसो और कार्लमार्क्स, लेनिन की तरह अपने संपर्क से प्रजाजनों को ऐसे मार्ग पर चला सकें, जिसकी पहले कभी भी आशा नहीं की गई थी।

भावनशील का क्या कहना? संत सज्जनों ने न जाने कितनों को अपने संपर्क से लोहे जैसे लोगों को पारस की भूमिका निभाते हुए कुछ से कुछ बना दिया।

हमारे वीरभद्र अब यही करेंगे। हमने भी यही किया है। लाखों लोगों की विचारणा और क्रिया पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन किया है और उन्हें गाँधी के सत्याग्रहियों की तरह, विनोबा के भूदानियों की तरह, बुद्ध के परिब्राजकों की तरह अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए तैयार कर दिया। प्रज्ञा पुत्रों की इतनी बड़ी सेना हनुमान के अनुयायी वानरों की भूमिका निभाती

है। इस छोटे से जीवन में अपनी प्रत्यक्ष क्रियाओं के द्वारा जहाँ भी रहे वहीं चमत्कार खड़े कर दिए तो कोई कारण नहीं कि हमारी ही आत्मा के टुकड़े जिसके पीछे लगें, उसे भूतपलीत की तरह तोड़–मरोड़ कर न रख दें।

अगले दिनों अनेक दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन की आवश्यकता पड़ेगी। उसके लिए ऐसे गांडीव धारियों की, जो अर्जुन की तरह कौरवों की अक्षौहिणी सेनाओं को धराशायी कर दें, आवश्यकता पड़ेगी। ऐसे हनुमानों की जरूरत होगी, जो एक लाख पूत–सवा लाख नाती वाली लंका को पूँछ से जलाकर खाक कर दें। ऐसे परिवर्तन अंतराल बदलने भर से हो सकते हैं। अमेरिका के अब्राहम लिंकन और जार्ज वाशिंगटन बहुत गई गुजरी हैसियत के परिवारों में जन्मे थे, पर वे अपने जीवन प्रवाह को पलट कर अमेरिका के राष्ट्रपति बन गए।

प्रतिभाहीनों की बात जाने दीजिए, वे तो अपनी क्षमता और बुद्धिमत्ता को चोरी, डकैती, ठगी जैसे नीच कर्मों में लगा सकते हैं, पर जिनमें भावना भरी हो, वे अपने साधारण पराक्रम से समय को उलटकर कहीं से कहीं ले जा सकते हैं। स्वामी दयानंद, श्रद्धानंद, रामतीर्थ जैसों के कितने ही उदाहरण सामने हैं जिनकी दिशाधारा बदली तो वे असंख्यों को बदलने में समर्थ हो गए।

इन दिनों प्रतिभाएँ विलासिता में, संग्रह में, अहंकार की पूर्ति में निरत हैं। इसी निमित्त वे अपनी क्षमता और संपन्नता को नष्ट करती रहती हैं। यदि इनमें से थोड़ी सी भी ढर्रा बदल दें, तो वे गीता प्रेस वाले जय दयाल गोयंदका की तरह ऐसे साधन खड़े कर सकती हैं, जिन्हें अद्भुत और अनुपम कहा जा सके।

कौन प्रतिभा किस प्रकार बदली जानी है और उससे क्या काम लिया जाना है, यही निर्धारण उच्च भूमिका से होता रहेगा। अभी जो लोग विश्व युद्ध छेड़ने और संसार को तहस–नहस कर देने की बात सोचते हैं, उनके दिमाग बदलेंगे तो विनाश प्रयोजनों में लगने वाली बुद्धि, शक्ति और संपदा को विकास प्रयोजनों की दिशा में मोड़ देंगे। इतने भर से परिस्थितियाँ बदलकर कहीं से कहीं चली जाएँगी। प्रवृत्तियाँ एवं दिशाएं बदल

जाने से मनुष्य के कर्तृत्व कुछ से कुछ हो जाते हैं और जो श्रेय मार्ग पर कदम बढ़ाते हैं, उनके पीछे भगवान् की शक्ति सहायता के लिए निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। बाबा साहब आम्टे की तरह वे अपंगों का विश्व विद्यालय, कुष्ठ औषधालय बना सकते हैं। हीरालाल शास्त्री की तरह वनस्थली बालिका विद्यालय खड़े कर सकते हैं। लक्ष्मीबाई की तरह कन्या गुरुकुल खड़े कर सकते हैं।

मानवी बुद्धि की भ्रष्टता ने उसकी गतिविधियों को भ्रष्ट, पापी, अपराधी स्तर का बना दिया है। जो कमाते हैं, वह हाथों हाथ अवाँछनीय कार्यों में नष्ट हो जाता है। सिर पर बदनामी और पाप का टोकरा ही फूटता है। इस समुदाय के विचारों को कोई पलट सके, रीति–नीति और दिशाधारा को बदल सके, तो यही लोग इतने महान् बन सकते हैं, ऐसे महान् कार्य कर सकते हैं कि उनका अनुकरण करते हुए लाखों धन्य हो सकें और जमाना बदलता हुआ देख सकें।

इन दिनों हमारी जो सावित्री साधना चल रही है, उसके माध्यम से जो अदृश्य महाबली उत्पन्न किए जा रहे हैं, वे चुपके–चुपके असंख्य अंतःकरणों में घुसेंगे, उनकी अनीति को छुड़ाकर मानेंगे और ऐसे मणि–माणिक्य छोड़कर आएँगे, जिससे वे स्वयं धन्य बन सकें और ''युग परिवर्तन'' जो अभी कठिन दीखता है, कल सरल बना सकें।

मनीषी के रूप में हमारी प्रत्यक्ष भूमिका

मनुष्य अपनी अंतःशक्ति के सहारे प्रसुप्त के प्रकटीकरण द्वारा ऊँचा उठता है, यह जितना सही है, उतना ही यह भी मिथ्या नहीं कि तप–तितीक्षा से प्रखर बनाया गया वातावरण, शिक्षा, सान्निध्य–सत्संग, परामर्श–अनुकरण भी अपनी उतनी सशक्त भूमिका निभाता है। देखा जाता है कि किसी समुदाय में नितांत साधारण श्रेणी के सीमित सामर्थ्य संपन्न व्यक्ति एक प्रचंड प्रवाह के सहारे असंभव पुरुषार्थ भी संभव कर दिखाते हैं। प्राचीन काल में मनीषी–मुनिगण यही भूमिका निभाते थे। वे युग साधना में निरत रहे लेखनी–वाणी के सशक्त तंत्र के

माध्यम से जन–मानस के चिंतन को उभारते थे। ऐसी साधना अनेक उच्चस्तरीय व्यक्तित्त्वों को जन्म देती थी, उनकी प्रसुप्त सामर्थ्य को उजागर कर उन्हें सही दिशा देकर समाज में वाँछित परिवर्तन लाती थी। शरीर की दृष्टि से सामान्य दृष्टिगोचर होने वाले व्यक्ति भी प्रतिभा–कुशल, चिंतन की श्रेष्ठता से अभिपूरित देखे जाते थे।

सर्वविदित है कि मुनि एवं ऋषि ये दो श्रेणियाँ अध्यात्म क्षेत्र की प्रतिभाओं में गिनी जाती रही हैं। ऋषि वह जो तपश्चर्या द्वारा काया का चेतनात्मक अनुसंधान कर उन निष्कर्षों से जन–समुदाय को लाभ पहुँचाए तथा मुनिगण वे कहलाते हैं, जो चिंतन–मनन स्वाध्याय द्वारा जन–मानस के परिष्कार की अहम भूमिका निभाते हैं। एक पवित्रता का प्रतीक है, तो दूसरा प्रखरता का। दोनों को ही तप साधना में निरत हो सूक्ष्मतम बनना पड़ता है ताकि अपना स्वरूप और विराट व्यापक बनाकर स्वयं को आत्मबल संपन्न कर वे युग चिंतन के प्रवाह को मरोड़–बदल सकें। मुनि जहाँ प्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग करने की स्वतंत्रता रखते हैं, वहाँ ऋषियों के लिए यह अनिवार्य नहीं। वे अपने सूक्ष्म रूप में भी वातावरण को आंदोलित करते, सुसंस्कारित बनाए रख सकते हैं।

लोक व्यवहार में मनीषी शब्द का प्रायः अर्थ उस महाप्राज्ञ से लिया जाता है जिसका मन उसके वश में हो। जो मन से नहीं संचालित होता, अपितु अपने विचारों द्वारा मन को चलाता है, उसे मनीषी एवं ऐसी प्रज्ञा को मनीषा कहा जाता है। शास्त्रकार का कथन है–"मनीषा अस्ति येषां ते मनीषा नः" लेकिन साथ ही यह भी कहा है–मनीषि नस्तु भवन्ति, पानानि न भवन्ति, अर्थात– मनीषा तो कई होते हैं, बड़े–बड़े बुद्धिमान होना अलग बात है एवं पवित्र शुद्ध अंतःकरण रखते हुए सही है। आज संपादक, बुद्धिजीवी, लेखक, अन्वेषक, प्रतिभाशाली वैज्ञानिक तो अनेकानेक हैं, देश–देशांतरों में फैले पड़े हैं, लेकिन वे मनीषी नहीं हैं। क्यों? क्योंकि तपः शक्ति द्वारा अंतःशोधन द्वारा उन्होंने पवित्रता नहीं अर्जित की।

साहित्य की आज कहीं कमी है? जितनी पत्र–पत्रिकाएँ

प्रकाशित होती हैं, जितना साहितय नित्य विश्व भर में छपता है, उस पहाड़ के समान सामग्री को देखते हुए लगता है, वास्तव में मनीषी बढ़े हैं, पढ़ने वाले भी बढ़े हैं। लेकिन इस सबका प्रभाव क्यों नहीं पड़ता? क्यों एक लेखक की कलम कुत्सा भड़काने में ही निरत रहती है एवं उस साहित्य को पढ़कर तुष्टि पाने वालों की संख्या बढ़ती है, इसके कारण ढूँढे जाएँ, तो वहीं आना होगा, जहाँ कहा गया था ''पानानि न भविन्त''। यदि इतनी मात्रा में उच्चस्तरीय, चिंतन को उत्कृष्ट बनाने वाला साहित्य रचा गया होता एवं उसकी भूख बढ़ाने का माद्दा जन–समुदाय के मन में पैदा किया गया होता, तो क्या वे विकृतियाँ नजर आतीं, जो आज समाज में विद्यमान हैं। दैनंदिन जीवन की समस्याओं का समाधान यदि संभव है तो वह युग मनीषा के हाथों ही होगा।

जैसा कि हम पूर्व में भी कह चुके हैं कि नवयुग आएगा तो विचार शोधन द्वारा ही, क्रांति होगी तो वह लहू और लोहे से नहीं विचारों की विचारों से काट द्वारा होगी, समाज का नव–निर्माण होगा तो वह सद्विचारों की प्रतिष्ठापना द्वारा ही संभव होगा। अभी तक जितनी मलिनता समाज में प्रविष्ठ हुई है, वह बुद्धिमानों के माध्यम से ही हुई है। द्वेष–कलह, नस्लवाद, व्यापक नरसंहार जैसे कार्यों में बुद्धिमानों ने ही अग्रणी भूमिका निभाई है। यदि वे सनमार्गगामी होते, उनके अंतःकरण पवित्र होते, तप ऊर्जा का संबल उन्हें मिला होता, तो उन्होंने विधेयात्मक विज्ञान प्रवाह को जन्म दिया होता, सत्साहित्य रचा होता, ऐसे आंदोलन चलाए होते। हिटलर ने जब नीत्से के सुपर मेन रूपी अधिनायक को अपने में साकार करने की इच्छा की तो सर्वप्रथम सारे राष्ट्र के विचार प्रवाह को उस दिशा में मोड़ा। अध्यापक–वैज्ञानिक वर्ग नाजीवाद का कट्टर समर्थक बना तो उसकी उस निषेधात्मक विचार साधना द्वारा जो उसने 'मेन कैंफ' के रूप में आरोपित की। बाद में सारे राष्ट्र के पाठ्यक्रम एवं अखबारों की धारा का रुख उसने उस दिशा में मोड़ दिया जैसा कि वह चाहता था। जर्मन राष्ट्र नस्लवाद के अहं में सर्वश्रेष्ठ जाति का प्रतीक होने के गर्वोन्माद में उन्मत्त हो व्यापक नर संहार कर स्वयं ध्वस्त हो गया। यह भी मनीषा के एक मोड़ की

परिणति है, ऐसे मोड़ की जो सही दिशा में होता तो ऐसे समर्थ संपन्न राष्ट्र को कहाँ से कहाँ ले जाता।

कार्लमार्क्स ने सारे अभावों में जीवन जीते हुए अर्थशास्त्र रूपी ऐसे दर्शन को जन्म दिया जिसने समाज में क्रांति ला दी। पूँजीवादी किले ढहते चले गए एवं साम्राज्यवाद दो तिहाई धरती से समाप्त हो गया। ''दास कैपीटल'' रूपी इस रचना ने एक नवयुग का शुभारंभ किया जिसमें श्रमिकों को अपने अधिकार मिले एवं पूँजी के समान वितरण का यह अध्याय खुला जिसमें करोड़ों व्यक्तियों को सुख–चैन की, स्वावलंबन प्रधान जिंदगी जी सकने की स्वतंत्रता मिली। रूसो ने जिस प्रजातंत्र की नींव डाली थी, उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के पक्षधर शोषकों की रीति–नीति ही उसकी प्रेरणा स्त्रोत होगी। मताधिकार की स्वतंत्रता बहुमत के आधार पर प्रतिनिधित्त्व का दर्शन विकसित न हुआ होता, यदि रूसो की विचारधारा ने व्यापक प्रभाव जनसमुदाय पर न डाला होता तो। जिसकी लाठी उसकी भैंस, की नीति ही सब जगह चलती, कोई विरोध तक न कर पाता। जागीरदारों एवं उत्तराधिकार के आधार पर राजा बनने वाले अनगढ़ों का ही वर्चस्व होता है। इसे एक प्रकार की मनीषा प्रेरित क्रांति कहना चाहिए कि देखते–देखते उपनिबेश समाप्त हो गए, शोषक वर्ग का सफाया हो गया। इसी संदर्भ में हम कितनी ही बार लिंकन एवं लूथर किंग के साथ–साथ उस महिला हैरियट स्टो का उल्लेख करते रहे हैं, जिसकी कलम ने कालों को गुलामी के चंगुल से मुक्त कराया। प्रत्यक्षतः यह युग मनीषा की भूमिका है।

बुद्ध की विवेक एवं नीतिमत्ता पर आधारित विचार क्रांति एवं गाँधी पटेल, नेहरू द्वारा पैदा की गई स्वातंत्र्य आंदोलन की आँधी उस परोक्ष मनीषा की प्रतीक है, जिसने अपने समय में ऐसा प्रचंड प्रवाह उत्पन्न किया कि युग बदलता चला गया। उन्होंने कोई विचारोत्तेजक साहित्य रचा हो, यह भी नहीं। फिर यह सब कैसे संभव हुआ। यह तभी हो पाया जब उन्होंने मुनि स्तर की भूमिका निभाई, स्वयं को तपाया विचारों में शक्ति पैदा की एवं उससे वातावरण को प्रभावित किया।

परिस्थितियाँ आज भी विषम हैं। वैभव और विनाश के झूले में झूल रही मानव जाति को उबारने के लिए आस्थाओं के मर्मस्थल तक पहुँचना होगा और मानवी गरिमा को उभारने, दूरदर्शी विवेकशीलता को जगाने वाला प्रचंड पुरुषार्थ करना होगा। साधन इस कार्य में कोई योगदान दे सकते हैं, यह सोचना भ्रांतिपूर्ण है। दुर्बल आस्था अंतराल को तत्त्वदर्शन और साधना प्रयोग के उर्वरक की आवश्यकता है अध्यात्म वेत्ता इस मरुस्थल की देखभाल करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते व समय–समय पर संव्याप्त भ्रांतियों से मानवता को उबारते हैं। अध्यात्म की शक्ति विज्ञान से भी बड़ी है। अध्यात्म ही व्यक्ति के अंतराल में विकृतियों के माहौल से लड़ सकने–निरस्त कर पाने वाले सक्षम तत्त्वों की प्रतिष्ठापना कर पाता है। हमने व्यक्तित्त्वों में पवित्रता व प्रखरता का समावेश करने के लिए मनीषा को ही अपना माध्यम बनाया एवं उज्ज्वल भविष्य का सपना देखा है।

हमने अपने भावी जीवनक्रम के लिए जो महत्त्वपूर्ण निर्धारण किए हैं, उनमें सर्वोपरि है लोक चिंतन को सही दिशा देने हेतु एक ऐसा विचार प्रवाह खड़ा करना जो किसी भी स्थिति में अवाँछनीयताओं को टिकने ही न दे। आज जन समुदाय के मन–मस्तिष्क में जो दुर्गति घुस पड़ी है, उसी की परिणति ऐसी परिस्थितियों के रूप में नजर आती है, जिन्हें जटिल, भयावह समझा जा रहा है। ऐसे वातावरण को बदलने के लिए व्यास की तरह, बुद्ध, गाँधी, कार्लमार्क्स की तरह, मार्टिन लूथर किंग, अरविंद, महर्षि रमण की तरह भूमिका निभाने वाले मुनि व ऋषि के युग्म की आवश्यकता है, जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रयासों द्वारा विचार क्रांति का प्रयोजन पूरा कर सके, यह पुरुषार्थ अंतःक्षेत्र की प्रचंड तप साधना द्वारा ही संभव हो सकता है। इसका प्रत्यक्ष रूप युग मनीषा का हो सकता है, जो अपनी शक्ति द्वारा उत्कृष्ट स्तर का साहित्य रच सकें जिसे युगांतरकारी कहा जा सकता है। अखंड–ज्योति के माध्यम से जो संकल्प हमने आज से सैंतालीस वर्ष पूर्व लिया था उसे अनवरत निभाते रहने का हमारा नैतिक दायत्त्वि है।

युग ऋषि की भूमिका अपने परोक्ष रूप में निभाते हुए उन अनुसंधानों की पृष्ठभूमि बनाने का हमारा मन था जो वैज्ञानिक अध्यात्म का प्रत्यक्ष रूप इस तर्क, तथ्य, प्रमाणों को आधार मानने वाले समुदाय के समक्ष रख सकें। आज चल रहे वैज्ञानिक अनुसंधान यदि उनसे कुछ दिशा लेकर सही मार्ग पर चल सके तो हमारा प्रयास सफल माना जाएगा। आत्मानुसंधान के लिए अन्वेषण कार्य किस प्रकार चलना चाहिए, साधना–उपासना का वैज्ञानिक आधार क्या है? मनःशक्तियों के विकास में साधना उपचार किस प्रकार सहायक सिद्ध होते? ऋषिकालीन आयुर्विज्ञान का पुनर्जीवन कर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को कैसे अक्षुण्य बनाया जा सकता है, गायत्री की शब्द शक्ति एवं यज्ञाग्नि की ऊर्जा कैसे व्यक्तित्त्व को सामर्थ्यवान एवं पवित्र तथा काया को जीवनी शक्ति संपन्न बनाकर प्रतिकूलताओं से जूझने में समर्थ बना सकती है, ज्योतिर्विज्ञान के चिर पुरातन प्रयोगों के माध्यम से आज के परिप्रेक्ष्य में मानव समुदाय को कैसे लाभान्वित किया जा सकता है, ऐसे अनेक पक्षों को हमने अथर्ववेदीय ऋषि परंपरा के अंतर्गत अपने शोध प्रयासों में अभिनव रूप में प्रस्तुत कर दिया है। हमने उनका शुभारंभ कर बुद्धिजीवी समुदाय को एक दिशा दी है, आधार खड़ा किया है। परोक्ष रूप में हम उसे सतत् पोषण देते रहेंगे। सारे वैज्ञानिक समुदाय का चिंतन इस दिशा में चल पड़े, आत्मिकी के अनुसंधान में अपनी प्रज्ञा नियोजित कर वे स्वयं को धन्य बना सकें, ऐसा हमारा प्रयास रहेगा। सारी मानव जाति को अपनी मनीषी के द्वारा एवं शोध अनुसंधान के निष्कर्षों के माध्यम से लाभान्वित करने का हमारा संकल्प सूक्ष्मीकरण तपश्चर्या की स्थिति में और भी प्रखर रूप ले रहा है। इसकी परिणतियाँ आने वाला समय बताएगा।

''विनाश नहीं सृजन'' हमारा भविष्य कथन

अगला समय संकटों से भरा–पूरा है, इस बात को विभिन्न मूर्धन्यों ने अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न प्रकार के जोरदार शब्दों में कहा। ईसाई धर्मग्रंथ बाइबिल में जिस 'सेविनटाइम्स' में प्रलय काल जैसी विपत्ति आने का

उल्लेख किया है, उसका ठीक समय यही है। इस्लाम धर्म में चौदहवीं सदी के महान संकट का उल्लेख है। भविष्य पुराण में इन्हीं दिनों महती विपत्ति टूट पड़ने का संकेत है। सिखों के गुरु ग्रंथसाहिब में भी ऐसी ही अनेक भविष्यवाणियाँ हैं। कवि सूरदास ने इन्हीं दिनों विपत्ति आने का इशारा किया था। मिस्र के पिरामिडों में भी ऐसे ही शिलालेख पाए गए हैं। अनेक भारतीय भविष्यवक्ताओं ने इन दिनों भयंकर उथल–पुथल के कारण अध्यात्म आधार पर और दृश्य गणित ज्योतिष के सहारे ऐसी ही संभावनाएँ व्यक्त की हैं।

पाश्चात्य देशों में जिन भविष्य वक्ताओं की धाक है और जिनकी भविष्यवाणियाँ ९९ प्रतिशत सही निकलती रही हैं, उनमें जीन डिक्शन, प्रो० हरार, एंडरशन, जॉनबावेरी, कीरो, आर्थर, क्लार्क, नोस्ट्राडेमस, मदर शिम्टन, आनंदाचार्य आदि ने इस समय के संबंध में जो संभावनाएँ व्यक्त की हैं, वे भयावह हैं। कोरिया में पिछले दिनों समस्त संसार के दैवज्ञों का एक सम्मेलन हुआ था, उसमें भी डरावनी संभावनाओं की ही आगाही व्यक्त की गई थी। टोरंटो–कनाडा में, संसार भर के भविष्य विज्ञान विशेषज्ञों (फ्यूचराण्टालाजिस्टा) का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें वर्तमान परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करते हुए कहा था कि बुरे दिन अति समीप आ गए हैं। ग्रह–नक्षत्रों के पृथ्वी पर पड़ने वाले प्रभावों को समझने वालों ने इन दिनों सूर्य पर बढ़ते धब्बों और लगातार पड़ने वाले सूर्यग्रहणों को धरती निवासियों के लिए हानिकारक बताया है। इन दिनों सन् ८५ के प्रारंभ में उदय हुआ ''हैली धूमकेतु'' की विषैली गैसों का परिणाम पृथ्वीवासियों के लिए हानिकारक बताया गया है।

सामान्य बुद्धि के लोग भी जानते हैं कि अंधा–धुंध बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अगले दिनों अन्न जन तो क्या सड़कों पर चलने का रास्ता तक न मिलेगा। औद्योगीकरण–मशीनीकरण की भरमार से हवा और पानी भी कम पड़ रहा है और विषाक्त हो चला है। खनिज तेल और धातुएँ, कोयला, पचास वर्ष तक के लिए नहीं है। अणु परीक्षणों से उत्पन्न विकिरण से अगली पीढ़ी और वर्तमान जन समुदाय को कैंसर जैसे भयानक रोगों

की भरमार होने का भय है। कहीं अणु युद्ध हो गया तो इससे न केवल मनुष्य, वरन् अन्य प्राणियों और वनस्पतियों का भी सफाया हो जाएगा। असंतुलित हुए तापमान से ध्रुवों की बर्फ पिघल पड़ने, समुद्र में तूफान आने और हिमयुग के लौट पड़ने की संभावना बताई जा रही है और अनेक प्रकार के संकटों के अनेकानेक कारण विद्यमान हैं। इस संदर्भ में साहित्य इकट्ठा करना हो, तो उनसे ऐसी संभावनाएँ सुनिश्चित दिखाई पड़ती हैं, जिनके कारण इन वर्षों में भयानक उथल–पुथल हो। सन् २००० में युग परिवर्तन की घोषणा है, ऐसे समय में भी विकास से पूर्व विनाश की ढलाई से पूर्व गलाई की संभावना का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी भी पहलू से विचार किया जाए, प्रत्यक्षदर्शी और भावनाशील मनीषी–भविष्यवक्ता इन दिनों विश्व संकट को अधिकाधिक गहरा होता देखते हैं।

पत्रकारों और राजनीतिज्ञों के क्षेत्रों में इस बार एक अत्यधिक चिंता यह संव्याप्त है कि इन दिनों जैसा संकट मनुष्य जाति के सामने है, वैसा मानवी उत्पत्ति के समय से कभी भी नहीं आया। शांति परिषद आदि अनेक संस्थाएँ इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि महाविनाश का जो संकट सिर पर छाया हुआ है, वह किसी प्रकार टले। छुट–पुट लड़ाइयाँ तो विभिन्न क्षेत्रों में होती ही रहती हैं। शीतयुद्ध किसी भी दिन महाविनाश के रूप में विकसित हो सकता है, यह अनुमान हर कोई लगा सकता है।

भूतकाल में भी देवासुर संग्राम होते रहे हैं, पर जन–जीवन के सर्वनाश की प्रत्यक्ष संभावना का, सर्व सम्मत ऐसा अवसर इससे पूर्व कभी भी नहीं आया।

इन संकटों को ऋषि–कल्प सूक्ष्मधारी आत्माएँ भली प्रकार देख और समझ रही हैं। ऐसे अवसरों में वे मौन नहीं रह सकतीं। ऋषियों के तप, स्वर्ग, मुक्ति एवं सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं होते। उपलब्धियाँ तो आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले स्थूल शरीरधारी भी प्राप्त कर लेते हैं। यह महामानवों को प्राप्त होने वाली विभूतियाँ हैं। ऋषियों को भगवान् का कार्य संभालना पड़ता है और वे उसी प्रयास को लक्ष्य मानकर संलग्न रहते हैं।

हमारे ऊपर जिन ऋषि का, दैवी सत्ता का अनुग्रह है, उनने सभी कार्य लोकमंगल के निमित्त कराए हैं। आरंभिक २४ महापुरश्चरण भी इसी निमित्त कराए हैं कि आत्मिक समर्थता इस स्तर की प्राप्त हो सके, जिसके सहारे लोकमंगल के अतिमहत्त्वपूर्ण कार्यों को संपन्न करने में कठिनाई न पड़े।

विश्व के ऊपर छाए हुए संकटों को टालने के लिए उन्हें चिंता है। चिंता ही नहीं प्रयास भी किए हैं। इन्हीं प्रयासों में एक हमारे व्यक्तित्त्व को पवित्रता और प्रखरता से भर देना भी है। आध्यात्मिक सामर्थ्य इसी आधार पर विकसित होती है।

उपासना का वर्तमान चरण सूक्ष्मीकरण की सावित्री साधना के रूप में चल रहा है। इस प्रक्रिया के पीछे किसी व्यक्ति विशेष की ख्याति, संपदा, वरिष्ठता या विभूति नहीं हैं। एक मात्र प्रयोजन यही है कि मानवी सत्ता और गरिमा के लड़खड़ाते हुए पैर स्थिर हो सकें। पाँच वीरभद्रों के कंधों पर वे अपना उद्देश्य लादकर उसे संपन्न भी कर सकते हैं। हनुमान के कंधों पर राम लक्ष्मण दोनों बैठे फिरते थे। यह श्रेष्ठता प्रदान करना भर है। इसे माध्यम का चयन कह सकते हैं। एक गांडीव धनुष के आधार पर किस प्रकार इतना विशालकाय महाभारत लड़ा जा सकता था। इसे सामान्य बुद्धि से असंभव ही कहा जा सकता है, पर भगवान् की जो इच्छा होती है, वह तो किसी न किसी प्रकार पूरी हो कर रहती है। महाबली हिरण्याक्ष को शूकर भगवान् ने फाड़–चीरकर रख दिया था, उसमें भी भगवान् की ही इच्छा थी।

इस बार भी हमारी निज की अनुभूति है कि असुरता द्वारा उत्पन्न हुई–विभीषिकाओं को सफल नहीं होने दिया जाएगा। परिवर्तन इस प्रकार होगा कि जो लोग इस महाविनाश में संलग्न हैं, इसकी संरचना कर रहे हैं, वे उलट जाएँगे या उनके उलट देने वाले नए पैदा हो जाएँगे। विश्व–शांति में भारत की निश्चित ही कोई बड़ी भूमिका हो सकती है।

समस्त संसार के मूर्धन्यों शक्तिवानों और विचारवानों की आशंका एक ही है कि विनाश होने जा रहा है। हमारा अकेले का कथन यह है कि उलटे को उलटकर ही सीधा किया

जाएगा। हमारे भविष्य कथन को अभी ही बड़ी गंभीरता पूर्वक समझ लिया जाए। विनाश की घटाओं को तूफानी प्रवाह अगले दिनों उड़ाकर कहीं ले जाएगा और अंधेरा चीरते हुए प्रकाश से भरा वातावरण दृष्टिगोचर होगा। यह ऋषियों के पराक्रम से ही संभावित है, इसमें कुछ दृश्यमान व कुछ परोक्ष भूमिका भी हो सकती हैं।

यह मानकर चलना चाहिए कि सामान्य स्तर के लोगों की इच्छाशक्ति भी काम करती है। जनमत का भी दबाव पड़ता है। जिन लोगों के हाथ में इन दिनों विश्व की परिस्थितियाँ बिगाड़ने की क्षमता है, उन्हें जागृत लोकमत के सामने झुकना ही पड़ेगा। लोकमत को जागृत करने का अभियान ''प्रज्ञा-आंदोलन'' द्वारा चल रहा है। यह क्रमशः बढ़ता और सशक्त होता जाएगा। इसका दबाव हर प्रभावशाली क्षेत्र की समर्थ शक्तियों पर पड़ेगा और उनका मन बदलेगा कि अपने कौशल चातुर्य को विनाश की योजनाएँ बनाने की अपेक्षा विकास के निमित्त लगाना चाहिए। प्रतिभा एक महान शक्ति है। वह जिधर भी अग्रसर होती है, उधर ही चमत्कार प्रस्तुत करती जाती है।

वर्तमान समस्याएँ एक दूसरे से गुँथी हुई है। एक से दूसरी का घनिष्ठ संबंध है, चाहे वह पर्यावरण हो अथवा युद्ध सामग्री का जमाव, बढ़ती अनीति-दुराचार हो अथवा अकाल-महामारी जैसी देवी आपदाएँ। एक को सुलझा लिया जाए और बाकी सब उलझी पड़ी रहें, ऐसा नहीं हो सकता समाधान एक मुश्त खोजने पड़ेंगे और यदि इच्छा सच्ची है, तो उनके हल निकल कर ही रहेंगे।

शक्तियों में दो ही प्रमुख हैं। इन्हीं के माध्यम से कुछ बनता या बिगड़ता है। एक शस्त्रबल-धनबल। दूसरा बुद्धि बल -संगठन बल। पिछले बहुत समय से शस्त्र बल और धन बल के आधार पर मनुष्य को गिराया और अनुचित रीति से दबाया और जो मन में आया सो कराया जाता रहा है यही दानवी शक्ति है। अगले दिनों दैवी शक्ति को आगे आना है और बुद्धिबल तथा संगठन बल का प्रभाव अनुभव कराना है। सही दिशा में चलने

पर यह दैवी सामर्थ्य क्या कुछ दिखा सकती है, इसकी अनुभूति सबको करानी है।

न्याय की प्रतिष्ठा हो, नीति को सब ओर से मान्यता मिले, सब लोग हिलमिल कर रहें और मिल बाँटकर खाएँ, इस सिद्धांत को जन भावना द्वारा सच्चे मन से स्वीकारा जाएगा, तो दिशा मिलेगी, उपाय सूझेंगे, नई योजनाएँ बनेंगी, प्रयास चलेंगे और अंततः लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय बन ही जाएगा।

''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' यह दो ही सिद्धांत ऐसे हैं, जिन्हें अपना लिए जाने के उपरांत तत्काल यह सूझ पड़ेगा कि इन दिनों किन अवाँछनीयताओं को अपनाया गया है और उन्हें छोड़ने के लिए क्या साहस अपनाना पड़ेगा, किस स्तर का संघर्ष करना पड़ेगा? मनुष्य की सामर्थ्य अपार है। वह जिसे करने की यदि ठान ले और औचित्य के आधार पर अपना ले तो कोई कठिन कार्य ऐसा नहीं है, जिसे पूरा न किया जा सके।

अगले दिनों एक विश्व, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का प्रावधान बनने जा रहा है। जाति, लिंग, वर्ण और धन के आधार पर बरती जाने वाली विषमता का अंत समय अब निकट आ गया। इसके लिए जो कुछ करना आवश्यक है, वह सूझेगा भी और विचारशील लोगों के द्वारा पराक्रम पूर्वक किया भी जाएगा। यह समय निकट है। इसकी हम सब उत्सुकता से प्रतीक्षा कर सकते हैं।

जीवन के उत्तरार्द्ध के कुछ महत्त्वपूर्ण निर्धारण

बड़ी और कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही किसी महिमा और गरिमा का पता चलता है। प्रतिस्पर्धाओं में उत्तीर्ण होने पर ही पदाधिकारी बना जाता है। खेलों में बाजी मारने वाले पुरस्कार पाते हैं। खरे सोने की पहचान अग्नि में तपाने और कसौटी पर कसने से ही होती है। हीरा इसीलिए कीमती माना जाता है कि वह साधारण आरी या रेती से कटता नहीं है। मोर्चे फतह करके लौटने वाले सेनापति ही सम्मान पाते और विजय श्री का वरण करते हैं।

चुनौतियाँ स्वीकार करने वाले ही साहसी कहलाते हैं। उन्हें अपनी वरिष्ठता भयानक कठिनाइयों को पार करके ही सिद्ध करनी पड़ती है। योगी, तपस्वी जानबूझकर कष्टसाध्य प्रकिया अपनाते हैं। कृष्ण की गरिमा को जिनने जाना वे दुर्दांत उन्हें बर्बाद करने के लिए आरंभ से ही अपनी आक्रमकता का प्रदर्शन करते रहे। वकासुर, अघासुर, कालिया सर्प, कंस आदि अनेकों के आघातों का सामना करना पड़ा। पूतना तो जन्म के समय ही विष देने आई थी। आगे भी जीवन भर उन्हें संघर्षों का सामना करना पड़ा। महानता का मार्ग ऐसा ही है जिस पर चलने और बढ़ने वाले को पग–पग पर खतरे उठाने पड़ते हैं। दधीचि, भागीरथ, हरिश्चंद्र और मोरध्वज आदि की महिमा उनके तप–त्याग के कारण ही उजागर हुई।

भगवान् जिसे सच्चे मन से प्यार करते हैं, उसे अग्निपरीक्षाओं में होकर गुजारते हैं। भगवान् का प्यार बाजीगरी जैसे चमत्कार देखने–दिखाने में नहीं हैं। मनोकामनाओं की पूर्ति भी वहाँ नहीं होती।

हमारे निजी जीवन में भगवत् कृपा निरंतर उतरती रही है। चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरण करने का अत्यंत कठोर साधना क्रम उन्हीं दिनों से लाद दिया गया जब दुधमुँहीं किशोरावस्था भी पूरी नहीं हो पाई थी। इसके बाद संगठन, साहित्य, जेल, परमार्थ के एक से एक बढ़कर कठिन काम सौंपे गए। साथ ही यह भी जाँचा जाता रहा कि जो किया गया वह स्तर के अनुरूप बन पड़ा या नहीं। बड़ी प्रवंचना के सहारे संसारी ख्याति अर्जित करने की विडंबना तो नहीं रचाई गई है। आद्यशक्ति गायत्री को युग शक्ति के रूप में विकसित और विस्तृत करने के दायित्त्व को सौंपकर वह जान लिया गया कि एक बीज ने अपने को गलाकर नए २४ लाख सहयोगी–समर्थक किस प्रकार बना लिए? उनके द्वारा २४०० प्रज्ञापीठें विनिर्मित कराने से लेकर सतयुगी वातावरण बनाने और प्रयोग परीक्षणों की शृंखला अद्‌भुत अनुपम स्तर तक की बना लेने में आत्म समर्पण ही एक मात्र आधारभूत कारण रहा। सस्ता ईंधन ज्वलंत ज्वाला बनकर धधकता है तो इसका कारण ईंधन का अग्नि में समर्पित हो जाना ही माना जा सकता है।

अब जबकि ७५ वर्षों में से प्रत्येक को इसी प्रकार तपते–तपते बिता लिया तो एक बड़ी कसौटी सिर पर लदी। इसमें नियंता की निष्ठुरता नहीं खोजी जानी चाहिए, वरन् यही सोचा जाना चाहिए कि उसकी दी हुई प्रखरता के परीक्षण क्रम में अधिक तेजी लाने की बात उचित समझी गई।

हीरक, जयंती के बसंत पर्व पर अंतरिक्ष से दिव्य संदेश उतरा। उसमें 'लक्ष्य' शब्द था और उँगलियों का संकेत। यों यह एक पहेली थी, पर उसे सुलझाने में देर नहीं लगी। प्रजापति ने देव, दानव और मानवों का मार्गदर्शन करते हुए उन्हें एक शब्द का उपदेश दिया था–''द''। तीनों चतुर थे उनने संकेत का सही अर्थ अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप निकाल लिया। कहा गया था–''द''। देवताओं ने दमन (संयम), दैत्यों ने दया, मानवों ने दान के रूप में उस संकेत का भाष्य किया, जो सर्वथा उचित था।

एक–एक लाख की पाँच शृंखलाएँ सँजोने का संकेत

हुआ। उसका तात्पर्य है कली से कमल बनने की तरह खिल पड़ना। अब हमें इस जन्म की पूर्णाहुति में पाँच हव्य सम्मिलित करने पड़ेंगे, वे इस प्रकार हैं :

१–एक लाख कुंडों का गायत्री यज्ञ। २–एक लाख युग सृजेताओं को उभारना तथा शक्तिशाली प्रशिक्षण करना। ३–एक लाख वृक्षों का आरोपण। ४–एक लाख ग्रामतीर्थों की स्थापना। ५–एक लाख वर्ष का समयदान–संचय।

यों पाँचों कार्य एक से एक कठिन प्रतीत होते हैं और सामान्य मनुष्य की शक्ति से बाहर, किंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। वे संभव भी हैं और सरल भी। आश्चर्य इतना भर है कि देखने वाले उसे अद्भुत और अनुपम कहने लगें।

१–एक लाख गायत्री यज्ञ : वरिष्ठ प्रज्ञापुत्रों में से प्रत्येक को अपना जन्मदिवसोत्सव अपने आँगन में मनाना होगा। उसमें एक छोटी चौकोर वेदी बनाकर गायत्री मंत्र की १०८ आहुतियाँ तो देनी ही होंगी। इसके साथ ही समयदान–अंशदान की प्रतिज्ञा को निवाहते रहने की शपथ भी लेनी होगी। अभ्यास में समाए हुए दुर्गुणों में से कम से कम एक को छोड़ना और सत्प्रवृत्ति संबर्धन के लिए न्यूनतम एक कदम उठाना होगा। इस प्रकार अंशदान से झोला पुस्तकालय चलने लगेगा और शिक्षितों को युग साहित्य पढ़ने तथा अशिक्षितों को सुनाने की विधि–व्यवस्था चल पड़ेगी। अपनी कमाई का एक अंश परमार्थ प्रयोजनों में लगाते रहने से वे सभी प्रायः चल पड़ेंगे, जिनके लिए प्रज्ञा मिशन द्वारा सभी प्रज्ञा–संस्थानों को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

हर गायत्री यज्ञ के साथ ज्ञानयज्ञ जुड़ा हुआ है। कुटुंबी, संबंधी, मित्र, पड़ोसी आदि को अधिक संख्या में इस अवसर पर बुलाना चाहिए और ज्ञानयज्ञ के रूप में सुगम संगीत के अनुरूप प्रवचन करने की व्यवस्था बनानी चाहिए। यज्ञवेदी का मंडप सूझ–बूझ और उपलब्ध सामग्री से सजाया जा सकता है। वेदी को लीपा–पोता जाए और चौक पूर कर सजाया जाए, तो वह देखने में सहज आकर्षक बन जाती है। मंत्रोच्चार सभी मिल जुलकर करें। हवन सामग्री के रूप में यदि

सुगंधित द्रव्य मिलाए जा सकें तो गुड़ और घी से छोटे बेर जैसी गोली बनाई जा सकती है। १०८ गोलियों में १०८ आहुतियाँ हो जाती हैं। इससे सब घर का वातावरण एवं वायुमंडल शुद्ध होता है। एक स्थान पर १ लाख गुणा १०८ लगभग एक करोड़ आहुतियों का यज्ञ हो जाएगा। यह न्यूनतम है। इससे अधिक हो सके, तो संख्या २४० तक बढ़ाई जा सकती है। आतिथ्य में कुछ खर्च करने की मनाही है। इसलिए हर गरीब–अमीर के लिए यह सुलभ है। महत्त्व को देखते हुए वह छोटी सी प्रकिया महत्त्वपूर्ण सत्परिणाम उत्पन्न करने में समर्थ हो सकती है।

युगसंधि सन् २००० तक है। अभी उसमें प्रायः १४ वर्ष हैं। हर साल इतने जन्मदिन भी मनाए जाते रहें तो १ लाख कार्यकर्त्ताओं के जन्मदिन १ लाख यज्ञों में होते रहेंगे। देखा–देखी इसका विस्तार होता चले, तो हर वर्ष कई लाख यज्ञ और कई करोड़ आहुतियाँ हो सकती हैं। इससे वायुमंडल और वातावरण दोनों का ही संशोधन होगा, साथ ही जनमानस का परिष्कार करने वाली अनेकों सत्प्रवृत्तियाँ इन अवसरों पर लिए गए अंशदान, समयदान संकल्प के आधार पर सुविकसित होती चलेंगी।

२–एक लाख को संजीवनी विद्या का प्रशिक्षण : शांतिकुंज की नई व्यवस्था इस प्रकार की जानी है कि जिसमें ५०० आसानी से और १००० ठूँस–ठूँस कर नियमित रूप से शिक्षार्थियों का प्रशिक्षण होता रह सकता है। इस प्रशिक्षण में व्यक्ति का निखार, प्रतिभा का उभार, परिवार सुसंस्कारिता, समाज में सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन जैसे महत्त्वपूर्ण पाठ नियमित पढ़ाए जाएँगे। आशा की गई है कि इस स्वल्प अवधि में भी जो पाठ्यक्रम हृदयंगम कराया जाएगा, जो प्राण–प्रेरणा भरी जाएगी वह प्रायः ऐसी होगी जिसे साधना का, तत्त्वज्ञान का सार कह सकते हैं। आशा की जानी चाहिए कि इस संजीवनी विद्या को जो साथ लेकर वापिस लौटेंगे, वे अपना काया–कल्प अनुभव करेंगे और साथ ही ऐसी लोक नेतृत्त्व क्षमता संपादित करेंगे, जो हर क्षेत्र में हर कदम पर सफलता प्रदान कर सके। यह

प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता अपने क्षेत्र में पाँच सूत्री योजना का संचालन एवं प्रशिक्षण करेंगे।

मिशन की पत्रिकाओं के पाठक तो ग्राहकों की तुलना में पाँच गुने अधिक हैं। पत्रिका न्यूनतम पाँच व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है। इस प्रकार प्रज्ञा परिवार की संख्या प्रायः २४–२५ लाख हो जाती है। इनमें नर–नारी शिक्षित वर्ग के हैं। सभी को इस प्रशिक्षण में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया है। २५ पीछे एक विद्यार्थी मिले तो उनकी संख्या एक लाख हो जाती है। युग संधि की अवधि में इतने शिक्षार्थी विशेष रूप से लाभ उठा चुके होंगे। इन्हें मात्र स्कूली विद्यार्थी नहीं माना जाना चाहिए, वरन् जिस उच्चस्तरीय ज्ञान को सीखकर वे लौटेंगे उससे यह आशा की जा सकती है कि उनका व्यक्तित्त्व महामानव स्तर का युग नेतृत्त्व की प्रतिभा से भरा–पूरा होगा।

वह शिक्षण मई १९८६ से आरंभ हुआ है। उसकी विशेषता यह है कि शिक्षार्थियों के लिए निवास, प्रशिक्षण की तरह भोजन भी निःशुल्क है। इस मद में स्वेच्छा से कोई कुछ दे तो अस्वीकार भी नहीं किया जाता, पर गरीब–अमीर का भेद करने वाली शुल्क परिपाटी को इस प्रशिक्षण में प्रवेश नहीं करने दिया गया है। अभिभावक और अध्यापक की दुहरी भूमिका प्राचीनकाल के विद्यालय निभाया करते थे, इस प्रयोग को भी उसी प्राचीन विद्यालय प्रणाली का पुनर्जीवन कहा जा सकता है।

जीवन की बहुमुखी समस्याओं का समाधान, प्रगति पथ पर अग्रसर होने के रहस्य भरे तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त इसी अवधि में भाषण, कला, सुगम–संगीत, जड़ी–बूटी उपचार, पौरोहित्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह–उद्योगों का सूत्र संचालन भी सम्मिलित रखा गया है ताकि उससे परोक्ष और प्रत्यक्ष लाभ अपने तथा दूसरों के लिए उपलब्ध किया जा सके।

अनुमान है कि अगले १४ वर्षों में एक लाख छात्रों के उपरोक्त प्रशिक्षण पर भारी व्यय होगा। प्रायः एक करोड़ भोजन व्यय में ही चला जाएगा। इमारत की नई रद्दोबदल, फर्नीचर, बिजली आदि के जो नए खर्च बढ़ेंगे, वे भी इससे कम न होंगे।

आशा की गई है कि बिना याचना किए भारी खर्च को वहन कर अब तक निभा व्रत आगे भी निभता रहेगा और यह संकल्प भी पूरा होकर रहेगा। २५ लाख का इस उच्चस्तरीय शिक्षण में सम्मिलित होना तनिक भी कठिन नहीं, किंतु फिर भी प्रतिभावानों को प्राथमिकता देने की जाँच–पड़ताल करनी पड़ी है और प्रवेशार्थियों से उनका सुविस्तृत परिचय पूछा गया है।

३–एक लाख अशोक वृक्षों का वृक्षारोपण : वृक्षारोपण का महत्त्व सर्वविदित है। बादलों से वर्षा खींचना, भूमि–कटाव रोकना, भूमि की उर्वरता बढ़ाना, प्राणवायु का वितरण, प्रदूषण का अवशोषण, छाया, प्राणियों का आश्रय, इमारती लकड़ी, ईधन आदि अनेकों लाभ वृक्षों के कारण इस धरती को प्राप्त होते हैं। धार्मिक और भौतिक दृष्टि से वृक्षारोपण को एक उच्चकोटि का पुण्य परमार्थ माना गया है।

वृक्षों में अशोक का अपना विशेष महत्त्व है, इसका गुणगान सम्राट अशोक जैसा किया जा सकता है। सीता को आश्रय अशोक वाटिका में ही मिला था। हनुमान जी ने भी उसी के पल्लवों में आश्रय लिया था। आयुर्वेद में यह महिला रोगों की अचूक औषधि कहा गया है। पुरुषों की बलिष्ठता और प्रखरता बढ़ाने की उसमें विशेष शक्ति है। साधना के लिए अशोक वन के नीचे रहा जा सकता है। शोभा तो उसकी असाधारण है ही। यदि अशोक के गुण सर्वसाधारण को समझाए जाएँ तो हर व्यक्ति का अशोक वाटिका बना सकना न सही पर घर–आँगन, अड़ोस–पड़ोस में उसके कुछ पेड़ तो लगाने और पोसने में समर्थ हो ही सकते हैं।

एक लाख अशोक वृक्ष लगाने का संकल्प पूरा करने में यदि प्रज्ञा परिजन उत्साह पूर्वक प्रयत्न करें तो इतना साधारण निश्चय इतने बड़े जन समुदाय के लिए तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए। उसकी पूर्ति में कोई अड़चन दीखती भी नहीं है। उन्हें देवालय की प्रतिष्ठा दी जाएगी। बिहार के हजारी किसान ने हजार आम्र–उद्यान निज के बलबूते खड़े करा दिए थे, तो कोई कारण नहीं कि एक लाख अशोक वृक्ष लगाने का उद्देश्य पूरा न हो सके। इनकी पौध शांतिकुंज से देने का निश्चय किया

गया है और हर प्रज्ञापुत्र को कहा गया है कि वह अशोक वाटिका लगाने–लगवाने में किसी प्रकार की कमी न रहने दें। उसके द्वारा वायुशोधन का होने वाला कार्य शाश्वत शास्त्र सम्मत यज्ञ के समतुल्य ही समझें। अग्निहोत्र तो थोड़े समय ही कार्य करता है, पर यह पुनीत वृक्ष उसी कार्य को निरंतर चिरकाल तक करता रहता है।

४–हर गाँव एक युग तीर्थ : जहाँ श्रेष्ठ कार्य होते रहते हैं, उन स्थानों की अर्वाचीन अथवा प्राचीन गतिविधियों को देखकर आदर्शवादी प्रेरणा प्राप्त होती रहती है, ऐसे स्थानों को तीर्थ कहते हैं। जिन दर्शनीय स्थानों की श्रद्धालु जन तीर्थयात्रा करतें हैं, उन स्थानों एवं क्षेत्रों के साथ कोई ऐसा इतिहास जुड़ा है, जिससे संयमशीलता, सेवा भावना का स्वरूप प्रदर्शित होता है। प्रस्तुत तीर्थों में कभी ऋषि आश्रम रहे हैं। गुरुकुल आरण्यक चले हैं और परमार्थ संबंधी विविध कार्य होते रहे हैं।

इन दिनों प्रख्यात तीर्थ थोड़े ही हैं। वहाँ पर्यटकों की धकापेल भर रहती है। पुण्य प्रयोजनों का कहीं अता–पता नहीं है। इन परिस्थितियों में तीर्थ भावना को पुनर्जीवित करने के लिए सोचा यह गया है कि भारत के प्रत्येक गाँव को एक छोटे तीर्थ के रूप में विकसित किया जाए। ग्राम से तात्पर्य यहाँ शहरों में द्वेष या उपेक्षा भाव रखना नहीं है, वरन् पिछड़ेपन की औसत रेखा से नीचे वाले वर्ग को प्रधानता देना है। मातृभूमि का हर कण देवता है। गाँव और झोंपड़ा भी। आवश्यकता इस बात की है कि उन पर छाया पिछड़ापन धो दिया जाए और सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना की जाए। इतने भर से वहाँ बहुत कुछ उत्साहवर्धक प्रेरणाप्रद और आनंददायक मिल सकता है। "हर गाँव एक तीर्थ" योजना का उद्देश्य है, ग्रामोत्थान, ग्राम सेवा, ग्राम विकास। इस प्रचलन के लिए घोर प्रयत्न किया जाए और उस परिश्रम को ग्राम देवता की पूजा माना जाए। यह तीर्थ स्थापना हुई, जिसे स्थानीय निवासी और बाहर के सेवा भावी उद्बोधनकर्त्ता मिल–जुलकर पूरा कर सकते हैं। पिछड़ेपन के हर पक्ष से जूझने और प्रगति के हर पहलू को उजागर करने के लिए आवश्यक है कि गाँवों की सार्थक पद यात्राएँ

की जाएँ, जन संपर्क साधा जाए और युग चेतना का अलख जगाया जाए।

हर गाँव को एक तीर्थ रूप में विकसित करने के लिए तीर्थयात्रा टोलियाँ निकालने की योजना है। पद यात्रा को साईकिल यात्रा के रूप में मान्यता दी है। चार साइकिल सवारों का एक जत्था पीले वस्त्रधारण किए गले में पीला झोला लटकाए, साइकिलों पर पीले रंग के कमंडल टांगे प्रवास चक्र पर निकलेगा। यह प्रवास न्यूनतम एक सप्ताह के, दस दिन के, पंद्रह दिन के अथवा अधिक से अधिक एक माह के होंगे। जिनका निर्धारण पहले ही हो चुका होगा। यात्रा जहाँ से आरंभ होगी, एक गोल चक्र पूरा करती हुई वहीं समाप्त होगी। प्रातःकाल जलपान करके टोली निकलेगी। रास्ते में सहारे वाली दीवारों पर आदर्शवाक्य लिखती चलेगी। छोटी बाल्टियों में रंग घुला होगा। सुंदर अक्षर लिखने का अभ्यास पहले से ही कर लिया गया होगा। १–हम बदलेंगे–युग बदलेगा। २–हम सुधरेंगे–युग सुधरेगा। ३–नर और नारी एक समान, जाति वंश सब एक समान। वाक्यों की प्रकाशित शृंखलाएं जो जहाँ उपयुक्त हों, वहाँ उन्हें ब्रुश से लिखते चलना चाहिए।

रात्रि को जहाँ ठहरना निश्चय किया हो वहाँ शंख–घड़ियालों से गाँव की परिक्रमा लगाई जाए और घोषणा की जाए कि अमुक स्थान पर तीर्थयात्री मंडली के भजन–कीर्तन होंगे।

गाँव में एक दिन के कीर्तन में जहाँ सुगम संगीत से उपस्थित जनों को आह्लादित किया जाएगा वहाँ उन्हें यह भी बताया जाएगा कि गाँव को सज्जनता और प्रगति की प्रतिमूर्ति बनाया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा, बाल संस्कारशाला, स्वच्छता, व्यायामशाला, घरेलू शाक वाटिका, परिवार नियोजन, नशाबंदी, मितव्ययिता, सहकारिता, वृक्षारोपण आदि सत्प्रवृत्तियों की महिमा और आवश्यकता बताते हुए यह बताया जाए कि इन सत्प्रवृत्तियों को मिलजुलकर किस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है और उन प्रयत्नों का कैसे भरपूर लाभ उठाया जा सकता है।

संभव हो तो सभा के अंत में उत्साही प्रतिभा वाले लोगों

की एक समिति बना दी जाए जो नियमित रूप से समयदान अंशदान देकर इन सत्प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने में जुटे। गाँव की एकता और पवित्रता का ध्वज अशोक वृक्ष के रूप में दूसरे दिन प्रातःकाल स्थापित किया जाए। यह देव प्रतिमा उपयोगिता और भावना की दृष्टि से अतीव उपयोगी है।

इन आंदोलनों का एक लाख गाँवों में विस्तार हेतु शांति कुंज ने पहला कदम बढ़ाया है। इसके लिए संचालन केंद्रों की स्थापना की गई है। वहाँ चार-चार नई साइकिलें, चार छोटी बाल्टियाँ, बिस्तरबंद, संगीत उपकरण साहित्य आदि साधन जुटाए गए हैं। इनके सहारे यात्रा की सभी आवश्यक वस्तुएँ एक ही स्थान पर मिल जाती हैं और कुछ ही दिनों की ट्रेंनिंग के उपरांत समयदानियों की टोली आगे बढ़ चलती है। कार्यक्रम की सफलता तब सोची जाएगी जब कम से कम एक नैष्ठिक सदस्य उस गाँव में बने और समयदान और अशंदान नियमित रूप से देते हुए झोला पुस्तकालय चलाने लगे। यह प्रक्रिया जहाँ भी अपनाई जाएगी वहीं एक उपयोगी संगठन बढ़ने लगेगा और उसके प्रयास से गाँव की सर्वतोमुखी प्रगति का उपक्रम चल पड़ेगा। यही है तीर्थ-भावना-तीर्थ स्थापना। इसके लिए एक हजार ऐसे केंद्र स्थापित करने की योजना है, जहाँ उपरोक्त तीर्थ यात्राओं का सारा सरंजाम सुरक्षित रहे। समयदानी तीर्थयात्री प्रशिक्षित किए जाते रहें और एक टोली का एक एक प्रवास चक्र पूरा होते-होते दूसरी टोली तैयार कर ली जाए और उसे दूसरे गाँव के भ्रमण प्रवास पर भेज दिया जाए। सोचा गया है कि पचास-पचास मील चारों दिशाओं में देखकर एक तीर्थ मंडल बना लिया जाए, उनमें जितने भी गाँव हों, उन में वर्ष में एक या दो बार परिभ्रमण होता रहे।

देश में सात लाख गाँव हैं, पर अभी वर्तमान संभावना और स्थिति को देखते हुए एक लाख गाँव ही हाथ में लिए गए हैं। २४ लाख प्रज्ञा परिजन एक लाख गाँवों में बिखरे होंगे। उनकी सहायता से यह कार्यक्रम सरलतापूर्वक संपन्न हो सकता है। इसके बाद वह हवा समूचे देश को भी अपनी पकड़ में ले सकती है। क्रमिक गति से चलना और जितना संभव है, उतना

तत्काल करते हुए आगे की योजना को विस्तार देते हुए चलना, यही बुद्धिमत्ता का कार्य है।

५–एक लाख वर्ष का समयदान : जितने विशालकाय एवं बहुमुखी युग परिवर्तन की कल्पना की गई है, उसके लिए साधनों की तुलना में श्रम सहयोग की कहीं अधिक आवश्यकता पड़ेगी। मात्र साधनों से काम चला होता, तो अरबों–खरबों खर्च करने वाली सरकारें इस कार्य को भी हाथ में ले सकती थीं। धनी–मानी लोग भी कुछ तो कर ही सकते थे, पर इतने भर से काम नहीं चलता। भावनाएँ उभारना और अपनी प्रामाणिकता, अनुभवशीलता, योग्यता एवं त्याग भावना का जनसाधारण को विश्वास दिलाना, यही वे आवश्यकताएँ हैं, जिनके कारण लोकहित के कार्यों में दूसरों को प्रोत्साहित किया और लगाया जा सकता है अन्यथा लंबा वेतन और भरपूर सुविधाएँ देकर भी यह नहीं हो सकता है कि पिछड़ी हुई जनता को आदर्शवादी चरण उठाने के लिए तत्पर किया जा सके। जला हुआ दीपक ही दूसरे को जला सकता है। भावनाशीलों ने ही भावना उभारने में सफलता प्राप्त की है। सृजनात्मक कार्यों में सदा कर्मवीर अग्रदूतों की भूमिका सफल होती है।

बात पर्वत जैसी भारी किंतु साथ ही राई जितनी सरल भी है। व्यक्ति औसत नागरिक स्तर स्वीकार कर ले और परिवार को स्वावलंबी सुसंस्कारी बनाने भर की जिम्मेदारी वहन करे तो समझना चाहिए कि सेवा–साधना के मार्ग में जो अड़चन थी, सो दूर हो गई। मनोभूमि का इतना सा विकास–परिष्कार कर लेने पर कोई भी विचारशील व्यक्ति लोक–सेवा के लिए युग परिवर्तन हेतु ढेरों समय निकाल सकता है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सद्गृहस्थ ऐसा साहस करते और कदम उठाते थे। गुरुगोविंद सिंह ने अपने शिष्य समुदाय में से प्रत्येक गृहस्थ से बड़ा बेटा संत सिपाही बनने के लिए माँगा था। वे मिले भी थे और इसी कारण सिखों का भूतकालीन इतिहास बिजली जैसा चमकता था। देश की रक्षा प्रतिष्ठा के लिए असंख्यों ने जानें गँवाई और भारी कठिनाइयाँ सहीं।

परंपरा गाँधी और बुद्ध के समय में भी सक्रिय हुई थी। विनोबा का सर्वोदय आंदोलन इसी आधार पर चला था। स्वामी विवेकानंद, दयानंद आदि ने समाज को अनेकानेक उच्चस्तरीय कार्यकर्त्ता प्रदान किए थे। आज वही सबसे बड़ी आवश्यकता है। समय की माँग ऐसे महामानवों की है, जो स्वयं बढ़ें और दूसरों को बढ़ाएँ।

माना कि आज स्वार्थपरता, संकीर्णता और क्षुद्रता ने मनुष्य को बुरी तरह घेर रखा है, तो भी धरती को वीर विहीन नहीं कहा जा सकता। ६० लाख साधु बाबा यदि धर्म के नाम पर घर बार छोड़कर मारे–मारे फिर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि मिशन की एक लाख वर्ष की समयदान की माँग पूरी न हो सके। एक व्यक्ति यदि दो घंटे रोज समयदान दे सके तो एक वर्ष में ७२० घंटे होते हैं। ७ घंटे का दिन माना जाए तो यह पूरे १०३ दिन एक वर्ष में हो जाते हैं। यह संकल्प कोई २० वर्ष की आयु में ले और ७० का होने तक ५० वर्ष निवाहें तो कुल दिन ५ हजार दिन हो जाते हैं, जिसका अर्थ हुआ प्रायः १४ वर्ष। एक लाख वर्ष का समय पूरा करने के लिए ऐसे १००००० = १४७१४३ कुल इतने से व्यक्ति अपने जीवन में ही एक लाख वर्ष की समयदान याचना को पूर्ण कर सकते हैं। यह तो एक छोटी गणना हुई। मिशन में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो साधु–ब्राह्मणों जैसा परमार्थ परायण जीवन अभी भी जी रहे हैं और अपना समय पूरी तरह युग परिवर्तन की प्रक्रिया में नियोजित किए हुए हैं। ऐसे ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी हजारों की संख्या में अभी भी हैं। उनका पूरा समय जोड़ लेने पर तो वह गणना एक लाख वर्ष से कहीं अधिक की पूरी हो जाती है।

बात इतने तक सीमित नहीं है। प्रज्ञा परिवार के ऐसे कितने ही उदारचेत्ता हैं, जिनने हीरक जयंती के उपलक्ष्य में समयदान के आग्रह और अनुरोध को दैवी निर्देशन माना है और अपनी परिस्थितियों से तालमेल बिठाते हुए एक वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक का समय एक मुश्त दिया है। ऐसे लोग भी बड़ी संख्या में हैं, जो प्रवास पर तो नहीं जा सके, पर घर पर रहकर ही आए दिन मिशन की गतिविधियों को अग्रगामी बनाने के लिए

समय देते रहेंगे, स्थानीय गतिविधियों तक ही सीमित रहकर समीपवर्ती कार्यक्षेत्र को भी संभालते रहेंगे।

पुरुषों की तरह महिलाएँ भी इस समयदान यज्ञ में भाग ले सकती हैं। शारीरिक और बौद्धिक दोनों ही प्रकार के श्रम ऐसे हैं, जिन्हें अपनाकर वे महिला समाज में शिक्षा–संवर्धन जैसे अनेकों काम कर सकती हैं। अशिक्षित महिलाएँ तक घरों में शाकवाटिका लगाने जैसा काम कर सकती हैं। जिनके पीछे पारिवारिक जिम्मेदारी नहीं है, शरीर से स्वस्थ मन से स्फूर्तिवान हैं, वे शांतिकुंज के भोजनालय विभाग में काम कर सकती हैं और यहाँ के वातावरण में रहकर आशातीत संतोष भरा जीवन बिता सकती हैं।

कार्यक्रमों में प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक अनेक कार्य हैं जिन्हें घर से बाहर रहते हुए परिस्थितियों के अनुरूप कार्यान्वित किया जा सकता है। प्रचारात्मक स्तर के कार्य १–झोला पुस्तकालय, २–ज्ञान रथ, ३–स्लाइड प्रोजेक्टर प्रदर्शन, टेपरिकार्ड से युग संगीत एवं युग संदेश को जन–जन तक पहुँचाना, ४–दीवार पर आदर्श वाक्य लिखना, ५–साइकिलों वाली धर्म प्रचार पद यात्रा योजना में सम्मिलित होना। संगीत, साहित्य, कला के माध्यम से बहुत कुछ हो सकता है। साधन दान से भी अनेक सत्प्रवृत्तियों का पोषण हो सकता है। रचनात्मक कार्यों में : १–प्रौढ़ शिक्षा–पुरुषों की रात्रि पाठशाला, महिलाओं की अपराह्न पाठशाला। २–बाल संस्कारशाला। ३–व्यायामशाला। ४–स्वच्छता संवर्धन। ५–वृक्षारोपण आदि। सुधारात्मक कार्यों में अवाँछनीयता, अनैतिकता, अधंविश्वास आदि का उन्मूलन प्रमुख है। १–जातिगत ऊँच–नीच, २–पर्दा प्रथा, ३–दहेज, ४–फैशन के नाम पर अपव्यय, बाल विवाह, बहु प्रजनन आदि के उन्मूलन में सामर्थ्य भर प्रयत्न करना। इसके अतिरिक्त शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक क्षेत्रों से संबंधित अनेक कार्यक्रम हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए हर क्षेत्र और हर स्थिति में गुँजायश है। जिन्हें नवसृजन के लिए समय देना है, उन्हें अपनी योग्यता एवं परिस्थिति के अनुरूप कोई काम चुन या पूछ लेना चाहिए। यह

सभी कार्य प्रगति प्रयास समयदान से संबंधित है।

एक व्यक्ति का एक लाख वर्ष का समय यों सुनने कहने में बहुत अधिक प्रतीत होता है, किंतु जब सब परिजन मिलजुल कर इसकी पूर्ति करने पर कटिबद्ध होते हैं, तो हर परिजन के हिस्से में थोड़ा ही आता है।

बड़े अनुदान–बड़े वरदान : फुंसी का मवाद घरेलू सुई चुभोकर भी निकाला जा सकता है, पर मस्तिष्क या हृदय में घुसी गोली को निकालने के लिए कुशल सर्जन और बहुमूल्य उपकरणों की जरूरत पड़ती है। मकड़ी का पेट एक मक्खी से भर जाता है, पर हाथी को मनों गन्ना रोज चाहिए। घोंघे जलाशय की तली में जा बैठते हैं, पर समुद्र सोखने के लिए अगस्त्य ऋषि जैसे चुल्लू चाहिए। कुएँ से घड़ा भरकर पानी कोई भी निकाल सकता है, पर स्वर्ग से गंगा का अवतरण धरती पर करने के लिए भागीरथ जैसा तप और शिव जटाओं का आधार चाहिए। वृत्तासुर वध के लिए ऋषि दधीचि की ऊर्जामयी अस्थियों से बज्र बनाना पड़ा था। छोटे काम छोटे मनुष्यों की साधारण हलचलों से स्वल्प साधना से बन पड़ते हैं, पर महान् कार्यों के लिए महान् व्यवस्था बनानी पड़ती है। धरती की प्यास बादल बुझाते और समुद्र की सतह यथावत बनाए रहने के लिए सहस्रों नदियों की असीम जलराशि का निरंतर समर्पित होते रहना आवश्यक है।

परिवर्तन और निर्माण दोनों ही कष्टसाध्य हैं। भ्रूण जब शिशु रूप में धरती पर आता है तो प्रसव पीड़ा के साथ होने वाला खून खच्चर दिल दहला देता है। प्रस्तुत परिस्थितियों के दृश्य और अदृश्य दोनों ही पक्ष ऐसे हैं, जिनके कण–कण से महाविनाश का परिचय मिलता है। समय की आवश्यकताएँ इतनी बड़ी हैं जिन्हें पूरा करने के लिए बहुतों को बहुत कुछ करना चाहिए। विनाश से निपटने और विकास प्रत्यक्ष करने के लिए असामान्य व्यक्तित्त्व, असामान्य कौशल और असीम साधन चाहिए। इतने असीम जिन्हें जुटा सकना किसी व्यक्ति या समुदाय के लिए कठिन है। उस सारे सरंजाम का जुटाना मात्र परमेश्वर के हाथ है। हाँ इतना अवश्य है कि निराकार को

साकार जीवधारियों में नियोजित रणनीति की और कौशल भरी व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। सो भी परिमाण में। ऐसे कार्यों का संयोजन तो स्रष्टा की विधि व्यवस्था ही करती है, पर उसका श्रेय श्रद्धावान साहसियों को मिल जाता है। हनुमान और अर्जुन की शक्ति उनकी निज की उपार्जित नहीं थी वे स्रष्टा का काम करते हुए उसी की सामर्थ्य को प्राप्त कर सके। अर्जुन को सारथी का यदि समर्थन न रहा होता, तो महाभारत कैसे जीता जाता? हनुमान स्वयं बलवान रहे होते तो सुग्रीव सहित ऋष्यमूक पर्वत पर छिपे–छिपे न फिरते। समुद्र छलाँगने लंका जलाने, पर्वत उखाड़ने की सामर्थ्य उन्हें धरोहर में इसलिए मिली थी कि वह राम काज में समर्पित हों। यदि निजी मनोवाँछनाओं के लिए किसी भक्त ने माँगा है तो नारद मोह के समय पर मिले उपहास की तरह तिरस्कृत होना पड़ा है।

महान् परिवर्तन के साथ जुड़े हुए नवसृजन का उभय पक्षीय कार्य ऐसा है कि जिसे संपन्न किए जाने के लिए उतने साधन चाहिए जिनका विवरण शब्दों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह जुटाए जाने हैं, जुटेंगे भी।

अभीष्ट प्रयोजन की महानता को समग्र रूप से आँका जाना कठिन है। इसकी किस्तें ही शृंखला की कड़ियों की तरह प्रादुर्भूत होती है। प्रस्तुत संकट या संकल्प इसी प्रकार का है जो अवतरण पर्व पर विगत बसंत पंचमी को प्रकट हुआ। उस एक को पाँच भागों की सुविधा की दृष्टि से विभाजित किया गया है। १–एक लाख यज्ञ, २–एक लाख नर रत्न, ३–एक लाख अशोक वाटिका, ४–एक लाख ग्राम्य तीर्थ, ५–एक लाख वर्ष का समयदान संकलन। यह पाँचों ही काम इतने भारी लगते हैं मानों शेषनाग के सिर पर धरती का बोझ लादने वाले का अनुशासन ही प्रत्यक्ष हुआ हो। यह सभी कार्य ऐसे हैं जिन्हें मानवी सत्ता न सोच सकती है, न उनकी योजना बना सकती है और न पूरी करने का दुस्साहस ही संजो सकती है। ये अतिमानवी कार्य हैं जिन्हें हमारे जैसा तुच्छ व्यक्ति अपने निज के बलबूते किसी भी प्रकार वहन एवं संपन्न नहीं कर सकता। यह परम सत्ता का

कार्य है और वही बाजीगर की तरह कठपुतलियों को नचा–कुदा रही है।

अच्छा हो कि इस गोवर्धन को मिल–जुलकर उठाया जाए। अच्छा हो इस समुद्र बाँधने की कड़ी में कंकड़–पत्थर ढोने मात्र से श्रेय लूटा और यशस्वी बना जाए। प्रज्ञा परिजनों के लिए इस योजना में हाथ बँटाना उनके निज के हित में है, जो खोएँगे उस से हजार गुना अधिक पाएँगे। बीज को कुछ क्षण ही गलने का कष्ट उठाना पड़ता है। इसके उपरांत तो बढ़ने, हरियाने और फूलने फलने का आनंद ही आनंद है। वैभव ही वैभव है। स्वतंत्रता संग्राम में जो अग्रगामी बने वे मिनिस्टर बनने से लेकर स्वतंत्रता सेनानियों वाली पेंशन, सम्मान सहित प्राप्त कर सके। यह अवसर भी ऐसा ही है, जिसमें ली हुई भागीदारी मणिमुक्तकों की खदान कौड़ी मोल खरीद लेने के समान है। जिसका श्रेय यश और वैभव सुनिश्चित है उसे हस्तगत करने में कृपणता से अधिक और कुछ नहीं हो सकता।

तीन संकल्पों की महान् पुर्णाहुति

हमने जैसा कि इस पुस्तक में समय–समय पर संकेत किया है, जैसे हमारे बॉस के आदेश मिलते रहे हैं, वैसे ही हमारे संकल्प बनते, पकते व फलते होते गए हैं। सन् १९८६ वर्ष का उत्तरार्द्ध हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण सोपान है। इस वर्ष के समापन के साथ हमारे पचहत्तरवें वर्ष की हीरक जयंती का वह अध्याय पूरा होता है, जिनके साथ एक–एक लाख के पाँच कार्यक्रम जुड़े हुए हैं। उसकी पूर्णाहुति का समय भी आ पहुँचा है। अखंड ज्योति पत्रिका जो इस मिशन की प्रेरणा पुंज रही है, जिसके कारण यह विशाल परिवार बनकर खड़ा हो गया है, अपने जीवन के पचासवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। उसकी स्वर्ण जयंती इस उपलक्ष्य में मनाई जा रही है। तीन वर्ष से हमारी सूक्ष्मीकरण साधना चल रही है। उसे सावित्री साधना या भारतवर्ष की देवात्म–शक्ति की कुंडलिनी जागरण साधना भी कह सकते हैं, पर हमारी साधना विशुद्धतः लोकमंगल के प्रयोजनों के निमित्त हुई है। जिससे न केवल अपने

देश की गरिमा बढ़े, वरन धरती पर बिखरे अनेक अभावों, संकटों, व्यवधानों, विपत्ति भरे घटाटोपों का निराकरण भी संभव हो सके।

इन तीन महाअनुष्ठानों की पुर्णाहुति एक विशेष धर्मानुष्ठान के द्वारा की जा रही है। २४ लक्ष्य के २४ महापुरश्चरणों के समापन पर पूर्णाहुति के अवसर पर सन् १९५८ में हमने १००० कुंडीय यज्ञ किया था जो अविस्मरणीय बन गया। इस बार की तीन साधनाओं की पूर्णाहुति सारे भारत में कुल एक हजार स्थानों पर एक सौ आठ कुंडीय यज्ञ एवं युग निर्माण सम्मेलनों के रूप में होगी। एक वर्ष में एक हजार यज्ञों के माध्यम से एक लाख यज्ञों का संकल्प भी हमारा पूरा होगा एवं विभिन्न क्षेत्रों के वातावरण का परिशोधन करने में, समृद्धि तथा प्रगति में सहायता मिलेगी।

यह न समझा जाए कि ये सभी संकेत आदेश किसी व्यक्ति विशेष के लिए हैं, इसलिए उसे ही पूरा करना चाहिए। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि इतना बड़ा भार कोई एक व्यक्ति न तो उठा सकता है और न उसे लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। यह व्यक्ति वस्तुतः समुदाय है जिसे आज की स्थिति में प्रज्ञा परिवार जैसी छोटी इकाई समझा जा सकता है, किंतु अगले दिनों यह उदार चेत्ताओं की एक महान् बिरादरी होगी। इस यशस्वी वर्ग में सम्मिलित होना, उनके दायित्त्वों में हाथ बँटाना उन बड़भागियों के लिए एक अलौकिक वरदान है, जो अपने हिस्से का काम करके उपयुक्त अनुदान प्राप्त करते हैं।

युग संधि २००० तक चलेगी। तब तक हमें स्थूल या सूक्ष्म शरीर से सक्रिय रहना है। हमें सौंपे गए सभी कामों को पूरा करके ही जाना है। परिजन अब तक के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों में साथ देते, हाथ बँटाते और कदम से कदम मिलाकर चलते रहे हैं। विश्वास किया गया है कि इस अग्निपरीक्षा की घड़ी में वे साथ नहीं छोड़ेंगे, मुँह नहीं मोड़ेंगे। इस श्रेय साधना में सभी प्राणवानों की बराबर की भागीदारी रहेगी।

आत्मीय जनों से अनुरोध एवं उन्हें आश्वासन

साधना से उपलब्ध अतिरिक्त सामर्थ्य को विश्व के मूर्धन्य वर्गों को हिलाने उलटने में लगाने का हमारा मन है। अच्छा होता सुई और धागे को आपस में पिरो देने वाले कोई सूत्र मिल जाते। अन्यथा सर्वथा अपिचित रहने की स्थिति में तारतम्य बैठने में कठिनाई होगी। मूर्धन्यों में सत्ताधीश, धनाध्यक्ष, वैज्ञानिक और मनीषी वर्ग का उल्लेख है। यह सर्वोच्च स्तर के भी होंगे और सामान्य स्तर के भी। सर्वोच्च स्तर वालों की सूक्ष्मता जहाँ पैनी होती है वहाँ वे अहंकारी और आग्रही भी कम नहीं होते। इसलिए मात्र उच्च वर्ग तक ही अपने को सीमित न रखकर हम मध्यम वृत्ति के इन चारों को भी अपनी पकड़ में ले रहे हैं। ताकि बात नीचे से उठते–उठते ऊपर तक पहुँचने का भी कोई सिलसिला बने।

दूसरा वर्ग जाग्रत आत्माओं का है, इसका उत्पादन सदा से भारतभूमि में अधिक होता रहा है। महामानव, ऋषि, मनीषी, देवता यहाँ जितने जन्मे हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं। यही हमारे लिए समीप भी पड़ा है। अस्तु प्रयत्न करेंगे कि जहाँ कहीं भी पूर्व संचित संस्कारों वाली आत्माएँ दृष्टिगोचर हों उन्हें समय का संदेश सुनाएँ, युगधर्म बताएँ और समझाएँ कि यह समय व्यामोह में कटौती करके, किसी प्रकार निर्वाह भर में संतोष करने का है। जो हस्तगत है उसे बोया, उगाया और हजार गुना बढ़ाया जाना चाहिए। हम अकेले ही उगे, बढ़े और गलकर समाप्त हो गए तो यह एक दुर्घटना होगी। एक से हजार वाली बात सोची और कही जा रही है तो उसकी प्रत्यक्ष परिणति भी वैसी ही होनी चाहिए। प्रज्ञा परिवार बड़ा है। फिर भारत भूमि की उर्वरता

कम नहीं है। इसके अतिरिक्त अपनी योजना विश्वव्यापी है। उसकी परिधि में अकेला भारत ही नहीं समूचा संसार भी आता है। अस्तु प्रयत्न यह चला है कि विचार-क्रांति की प्रक्रिया को परिस्थितियों के अनुरूप व्यापक बनाने के लिए जाग्रत आत्माओं का समुदाय हर क्षेत्र में हर देश में मिले। कार्य पद्धतियाँ क्षेत्रीय वातावरण के अनुरूप बनती रहेंगी, पर लक्ष्य एक ही रहेगा-ब्रेन वाशिंग, विचार परिवर्तन, प्रज्ञा अभियान। हम तीर की तरह सनसनाते हुए ही लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। जिनमें इस प्रकार की जीवटता होगी, वे अनुभव करेंगे कि उन्हें कोई कोंचता, कुरेदता, झकझोरता, घसीटता और बाधित करता है। यों ऐसे लोग समय की पुकार पर अंतरात्मा की प्रेरणा से भी जग पड़ते हैं। ब्रह्ममुहूर्त में मुर्गा बाँग लगाने के लिए उठ खड़ा होता है, तो कोई कारण नहीं कि जिनमें प्राण चेतना विद्यमान है, वे महाकाल का आमंत्रण न सुनें और पेट-प्रजनन की आड़ में व्यस्तता और अभावग्रस्तता की ही बहानेबाजी करते रहें। समय की पुकार और हमारी मनुहार का संयुक्त प्रभाव कुछ भी न पड़े ऐसा हो ही नहीं सकता। विश्वास किया गया है कि इस स्तर का एक शानदार वर्ग उभरकर ऊपर आएगा और सामने ही कटिबद्ध खड़ा दृष्टिगोचर होगा।

तीसरा वर्ग प्रज्ञा परिवार का है। इसमें हमारा व्यक्तिगत लगाव है। लंबे समय से जिस-जिस बहाने साथ-साथ रहने के कारण घनिष्टता ऐसी और इतनी बढ़ गई है कि उसका समापन किसी भी प्रकार हो सकना संभव नहीं। इसके कई कारण हैं। प्रथम यह कि हमें अनेक जन्मों का स्मरण है। लोगों को नहीं। जिनके साथ पूर्व जन्मों में सघन संबंध रहे हैं उन्हें संयोगवश या प्रयत्नपूर्वक हमने परिजनों के रूप में एकत्रित कर लिया है और वे जिस-तिस कारण हमारे इर्द-गिर्द जमा हो गए हैं। इन्हें अखंड ज्योति अपने आँचल में समेटे बटोरे रही है। संगठन के नाम पर चलने वाले रचनात्मक कार्यक्रम भी इस संदर्भ में आकर्षण उत्पन्न करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त बच्चों और अभिभावकों के बीच जो सहज

वात्सल्य भरा आदान–प्रदान रहता है, वह भी चलता रहा है। बच्चे सहज स्वभाव अभिभावकों से कुछ चाहते रहते हैं। भले ही मुँह खोलकर माँगे नहीं अथवा भाव–भंगिमा से प्रकट करते रहें। बच्चों की आकाँक्षा बढ़ी–चढ़ी होती है। भले ही वह उपयोगी हो या अनुपयोगी, आवश्यक हो या अनावश्यक। दे दिलाकर ही उन्हें चुपाया जाता है। इतनी समझ होती नहीं कि पैसा व्यर्थ जाने और वस्तु किसी काम न आने का तर्क उसके गले उतारा जा सके। बच्चों और अभिभावकों के बीच यह दुलार भरी खींचतान तब तक चलती रहती है, जब तक वे परिपक्व नहीं हो जाते और उपयोगिता–अनुपयोगिता का अंतर नहीं समझने लगते। हमारे साथ एक रिश्ता परिजनों का यह भी चलता रहा है।

मान्यता सो मान्यता। आदत सो आदत। प्रत्यक्ष रिश्तेदारी न सही पूर्व संचित सघनता का दबाव सही। एक ऐसा सघन सूत्र हम लोगों के बीच विद्यमान है जो विचार विनिमय, संपर्क–सान्निध्य तक ही सीमित नहीं रहता, कुछ ऐसा भी चाहता है कि अधिक प्रसन्नता का कोई साधन कोई अवसर हाथ लगे। कइयों के सामने कठिनाइयाँ होती हैं। कई भ्रमवश जंजाल में फँसे रहते हैं। कईयों को अधिक अच्छी स्थिति चाहिए। कारण कई हो सकते हैं, पर देखा यह जाता है कि अधिकाँश लोग इच्छा आकाँक्षा लेकर आते हैं। वाणी से या बिना वाणी के व्यक्त करते हैं। साथ ही सोचते हैं कि हमारी बात यथा स्थान पहुँच गई। उसका विश्वास उन्हें तब होता है जब पूरा न सही आधा–अधूरा उपलब्ध भी हो जाता है।

याचक और दानी का रिश्ता दूसरा है, पर बच्चों और अभिभावकों के बीच यह बात लागू नहीं होती। बछड़ा दूध न पिए तो गाय का बुरा हाल होता है। मात्र गाय ही बछड़े को नहीं देती, बछड़ा भी गाय को देता है। यदि ऐसा न होता तो कोई अभिभावक बच्चे जनने और उनके लालन–पालन में समय लगाने, जैसा खर्च करने का झंझट मोल न लेते।

कहने को गायत्री परिवार, प्रज्ञा परिवार आदि नाम रखे

गए हैं और उनकी सदस्यता का रजिस्टर तथा समयदान, अंशदान का अनुबंध भी है, पर वास्तविकता दूसरी ही है, जिसे हम सब भली–भाँति अनुभव भी करते हैं। वह है जन्म–जन्मांतरों से संग्रहीत आत्मीयता। जिसके पीछे जुड़ी हुई अनेकानेक गुदीगुदी उत्पन्न करने वाली घटनाएँ हमें स्मरण हैं। परिजन उन्हें स्मरण न रख सके होंगे। फिर वे विश्वास करते हैं कि परस्पर आत्मीयता की कोई ऐसी मजबूत डोरी बँधी है, जो कई बार तो हिलाकर रख देती है। एक दूसरे के अधिक निकट आने, परस्पर कुछ अधिक कर गुजरने के लिए आतुर होते हैं। यह कल्पना नहीं वास्तविकता है जिसकी दोनों पक्षों को निरंतर अथवा समय–समय पर अनुभूति होती रहती है।

यही तीसरा वर्ग है–बालकों का। इनकी सहायता से मिशन का कुछ काम भी चला है, पर वह बात गौण है। प्रमुख प्रश्न एक ही है कि इन्हें हँसता–हँसाता, खिलता–खिलाता देखने का आनंद कैसे मिले? अब तक भेंट, परामर्श, सत्संग, सुविधा सान्निध्य से भी इस भाव संवेदना की तुष्टि होती थी, पर अब तो नियति ने वह सुविधा भी हाथ से छीन ली है। अब परस्पर भेंट मिलन का अध्याय ही समाप्त होता जा रहा है। इसमें समय की कमी या कोई व्यवस्था संबंधी कठिनाई कारण नहीं है। बात इतनी भर है कि इससे सूक्ष्मीकरण में बाधा पड़ती है। चित्त भटकता है और जिस स्तर का अंतराल पर दबाव पड़ना चाहिए वह बिखर जाता है। फलतः उस लक्ष्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है जिसके साथ समस्त मनुष्य समुदाय का भाग्य–भविष्य जुड़ा हुआ है। अपनी निज की मुक्ति, सिद्धि या स्वर्ग उत्कर्ष जैसा कारण रहा होता तो उसे आगे कभी के लिए टाला जा सकता था, पर समय तो ऐसा विकट है जो एक क्षण की भी छूट नहीं देता। ईमानदार सिपाही की तरह मोर्चा संभालने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं। इसलिए सूक्ष्मीकरण के सदंर्भ में परिजनों को हमें अपनी साधना हेतु एकाकी छोड़ देना चाहिए।

बच्चों के, प्रज्ञा परिजनों के संबंध में चलते–चलाते हमारा

इतना ही आश्वासन है कि यदि वे अपने भाव–संवेदना क्षेत्र को थोड़ा और परिष्कृत लें तो निकटता अब की अपेक्षा भी अधिक गहरी अनुभव करने लगेंगे। कारण कि हमारा सूक्ष्म शरीर सन् २००० तक और भी अधिक प्रखर होकर जिएगा। जहाँ उसकी आवश्यकता होगी, बिना बिलंब लगाए पहुँचेगा। कठिनाइयों में सहायता करने और बालकों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने की हमारी प्रकृति में राई–रत्ती भी अंतर नहीं होने जा रहा है। वह लाभ पहले की अपेक्षा और भी अधिक मिलता रह सकता है।

हमारे गुरुदेव सूक्ष्म शरीर से हिमालय में रहते हैं। विगत ६१ वर्षों में हम निरंतर उनका सान्निध्य अनुभव किया है। यों आँखों से देखने की बात मात्र जीवन भर में तीन बार ही, तीन–तीन दिन के लिए संभव हुई है। भाव–सान्निध्य में श्रद्धा की उत्कृष्टता रहने से उसकी परिणति एकलव्य के द्रोणाचार्य, मीरा के कृष्ण, रामकृष्ण के कालीदर्शन जैसी होती है। हमें भी वे भविष्य में हमारी निकटता अपेक्षाकृत और भी अच्छी तरह अनुभव करते रहेंगे।

बच्चों बड़ों से कुछ चाहते हैं, सो ठीक है, पर बड़े बदले में कुछ न चाहते हों ऐसा बात भी नहीं। नियत स्थान पर मल–मूत्र त्यागने, शिष्टाचार समझने, हँसने–हँसाने, वस्तुएँ न बिखरने देने, पढ़ने जाने जैसी अपेक्षाएँ वे भी करते हैं। जितना संभव है, उतना तो उन्हें भी करना चाहिए। हमारी अपेक्षाएँ भी ऐसी ही हैं। गोवर्धन उठाने वाले ने अपने अनगढ़ ग्वाल–बालों के सहारे ही गोवर्धन उठाकर दिखाया था। हनुमान की बात किसी ने नहीं सुनी तो अपने सहचर रीछ–वानरों को ही समेट लाए। नव–निर्माण के कंधे पर लदे उत्तरदायित्त्व को वहन करने में हम अकेले ही समर्थ नहीं हो सकते थे। यह मिल–जुलकर संपन्न हो सकने वाला कार्य था। सो समझदारों में से कोई हाथ न लगा तो अपने इसी बाल–परिवार को लेकर जुट पड़े और जो कुछ, जितना–कुछ संभव हो सका करते रहे। अब तक की प्रगति का यही सार संक्षेप है।

बात अगले दिनों की आती है। हमें अपने बच्चों के लिए

क्या करना चाहिए। इस कर्त्तव्य उत्तरदायित्त्व का सदा ध्यान रहा है। और जब तक चेतना का अस्तित्त्व है, उसका स्मरण दिलाने योग्य बात एक ही है कि हमारी आकाँक्षा और आवश्यकता को भुला न दिया जाए। समय विकट है। इसमें प्रत्यक्ष परिजन का समयदान और अंशदान हमें चाहिए। जितना मिलता रहा है, उससे भी अधिक मात्रा में, क्योंकि जो करना है, उसके लिए तत्काल कदम उठाने हैं। सो भी बड़े कामों के लिए बड़े–बड़े लोग चाहिए, बड़े साधन भी। हमारे परिवार का हर व्यक्ति बड़ा है। छोटेपन का तो उसने मुखौटा भर पहन रखा है। उतारने भर की देर है कि उसका असली चेहरा दृष्टिगोचर होगा। भेड़ों के समूह में पले सिंह शावक की कथा अपने प्रज्ञा परिजनों में से प्रत्येक के ऊपर लागू होती है या हो सकती है।

हमें हमारे मार्गदर्शक ने एक पल में क्षुद्रता झटक कर महानता का परिधान पहना दिया था। इस काया कल्प में मात्र इतना ही हुआ था कि लोभ, मोह की कीचड़ से उबरना पड़ा। जिस–तिस के सत्परामर्शों आग्रहों की उपेक्षा करनी पड़ी और आत्मा–परमात्मा के संयुक्त निर्णय को शिरोधार्य करने का साहस जुटाना पड़ा है। एकाकी चलने का आत्मविश्वास जागा और आदर्शों को भगवान् मानकर कदम बढ़े। इसके बाद एकाकी नहीं रहना पड़ा और न साधनहीन उपेक्षित स्थिति का कभी आभास हुआ। सत्य का अवलंबन अपनाने भर की देर थी कि असत्य का कुहासा अनायास ही हटता चला गया।

हमारा परिजनों से यही अनुरोध है कि हमारी जीवनचर्या को घटना क्रम की दृष्टि से नहीं वरन् पर्यवेक्षक की दृष्टि से पढ़ा जाना चाहिए कि उसमें दैवी अनुग्रह के अवतरण होने से ''साधना से सिद्धि'' वाला प्रसंग जुड़ा या नहीं। इसी प्रकार यह भी दृष्टव्य है कि दूसरों के अवलंबन योग्य आध्यात्मिकता का प्रस्तुतिकरण करते हुए हमारे कदम ऋषि परंपरा अपनाने के लिए बढ़े या नहीं? जिसे जितनी यथार्थता मिले वह उतनी ही मात्रा में यह अनुमान

लगाए कि अध्यात्म विज्ञान का वास्तविक स्वरूप यही है। आंतरिक पवित्रता और बहिरंग की प्रखरता में जो जितना आदर्शवादी समन्वय कर सकेगा, वह उन विभूतियों से लाभान्वित होगा जो अध्यात्म तत्त्वज्ञान एवं क्रिया–विज्ञान के साथ जोड़ी और बताई गई है।

अपने अनन्य आत्मीय प्रज्ञा परिजनों में से प्रत्येक के नाम हमारी यही वसीयत और विरासत है कि हमारे जीवन से कुछ सीखें। कदमों की यथार्थता खोजें, सफलता जाँचें और जिससे जितना बन पड़े अनुकरण का, अनुगमन का प्रयास करें। यह नफे का सौदा है, घाटे का नहीं।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा